हि. ६६४
१४१६

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन सिद्धान्त भास्कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संख्या.................. प्राप्ति-संख्या..........................

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

थ नाम जैन-सिद्धान्त-भास्कर

खक भाग २६ किरण-१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narla, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

वि० सं० २०३०, वीर निर्वाण सं० २४९९

भाग २६ जून १९७३ किरण १

५८०७८

श्री ग० दि० जैन (शोध) संस्थान ... ९१९६ ... नरिया, वाराणसी

परामर्श-मण्डल

प्रो० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

सिद्धान्ताचार्य पं० के० भुजबली शास्त्री

सम्पादक

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच्० डी०

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

प्रकाशक

श्री सुबोध कुमार जैन, मन्त्री

श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

(जैन-सिद्धान्त भवन)

आरा : बिहार

भारत में २०-०० रु० विदेश में ३०-०० रु० एक प्रति का १०-०० रु०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

१. जैन साहित्य में प्रतिपादित मगध-जनपद

—डॉ० प्रो० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० ... १

२. अपभ्रंश की एक नवीन उपलब्ध रससिक्त रचना : 'पुण्णासवकहा'

—प्रो० डॉ० राजाराम जैन ... २१

३. कनककीर्ति रचित कषाय-जय-भावना

अनु०—श्री नेमिचन्द्र जैन, एम० ए०, साहित्याचार्य ...३१

४. प्राकृत भाषा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—कोष्टक चिन्तामणि

—श्री अगरचन्द नाहटा

५. भगवान् महावीर की अध्यात्म-देशना

—श्री पं० पन्नालाल जी, साहित्याचार्य ... ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्य में प्रतिपादित मगध जनपद

डॉ० प्रो० नेमिचन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

जैन वाङ्मय में सोलह आर्यक्षेत्रों में मगध जनपद की गणना की गई है।[1] प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से इस जनपद का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस जनपद ने कई सदियों तक राजनीति और धर्म पर शासन किया है। श्रमण, आजीवक और वैदिक सम्प्रदायों के संवर्द्धन, पोषण और जीवनदान के कार्य इस जनपद द्वारा होते रहे हैं। तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रवृत्तियों का यह प्रमुख केन्द्र रहा है। राजा बिम्बसार या श्रेणिक, अजातशत्रु, नन्दराजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त, प्रियदर्शी राजा अशोक, सम्प्रति, शुङ्गवंश का सेनानी पुष्यमित्र एवं गुप्तवंश के राजाओं ने इस जनपद पर शताब्दियों तक शासन किया है।

इस जनपद की सीमा उत्तर में गंगा, दक्षिण में शोण नदी, पूर्व में अंग एवं पश्चिम में सघन जंगलों तक व्याप्त थी। एक प्रकार से आधुनिक दक्षिण बिहार प्राचीन मगध जनपद था। गया, पटना, शाहाबाद तथा हजारीबाग, मुंगेर और भागलपुर के कुछ अंश मगध की सीमा के अन्तर्गत थे।

ऋग्वेद की एक ऋचा में मगध को कीकट देश कहा है।[2] यास्क ने अपने निरुक्त में—"कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः"[3]—कीकट प्रदेश को अनार्यों का निवासस्थान बतलाया है। महाभारत में इसकी सीमा पश्चिम में कर्मनाशा नदी

---

१. व्याख्या प्रज्ञाप्ति और बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय में अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेदिवंश, कुश, पाञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज देशों के नाम आये हैं। अंगुत्तर० १, ३ पृ० १९७

२. ऋग्वेद ३।५३।१४

३. निरुक्त ६।३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और दक्षिण में दमूद नदी तक बतलायी है। मगध का अभ्युदय और विकास शिशुनाग वंश के राजा बिम्बसार—श्रेणिक के समय से आरम्भ हुआ और गुप्त-काल तक इस जनपद की समृद्धि होती रही। धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से भी इस जनपद का महत्त्व अत्यधिक था। बौद्ध, जैन और वैदिक धर्म एवं दर्शन की विभिन्न शाखाएँ समानान्तर रूप में उन्नति करती गईं।

जैन साहित्य में मगध जनपद को तीर्थ माना गया है। दिग्विजय करने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती का राज्याभिषेक मगध के पवित्र जल से किया गया था।[1] आज भी गया, पुनःपुनः नदी, च्यवनाश्रम एवं राजगृह वन की गणना पवित्र तीर्थों में की जाती है। मगध जनपद के निवासी प्रतिभाशाली, कर्त्तव्यपरायण एवं सेवाभावी बतलाये गये हैं। क्रान्ति एवं नवीन विचारधारा को प्रमुखता देने के कारण ही वैदिक साहित्य में मगध जनपद को आर्य संस्कृति से बहिर्भूत माना है।

मनुस्मृति के रचनाकाल पर्यन्त मगध की गणना मध्यदेश में नहीं की गई है। श्रमण साहित्य ने मगध जनपद को मध्यदेश की सीमा के अन्तर्गत स्थान देकर उसे आर्यदेश सिद्ध किया है। जैन लेखकों[2] ने मगध के वैभव, समृद्धि, संस्कृति, उदार विचार एवं जनजीवन का सजीव चित्रण कर उसका महत्त्व अंकित किया है। निश्चयतः प्राचीन काल में श्रमण संस्कृति और श्रमण विचारधारा का केन्द्र यह जनपद रहा है।

नगर और ग्राम

जैन वाङ्मय में इस जनपद के अन्तर्गत राजगृह, नन्दपुर, कुसुमपुर, पाटलिपुत्र, नालन्दा, चणकपुर, कुसाग्रपुर, जयन्तपुर आदि अनेक बड़े नगरों का और सुग्राम, शालिग्राम, कुम्भाग्राम, मोथाग्राम, कोल्लागसन्निवेश, जम्भिकग्राम, उदण्डपुर, गोबरग्राम, सर्वजखल, जम्बूखण्डग्राम, वाणिज्यग्राम, सुमंगलाग्राम,

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति, पृ० ७३१।
२. हरिवंशपुराण ३।५१।५७; धवला टीका प्रथम भाग पृ० ६१।६२; तिलोयपण्णत्ति ४।५४५ तथा १।६६-६७; पद्मचरित ३३।२ तथा२।११३; महापुराण १।१९६; जम्बूस्वामी चरित ५।१३; मुनिसुव्रत काव्य १।३७-५४ तथा वसुदेव हिण्डी पृ० २.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुवर्णग्राम, धन्यपुर ग्राम, थूणागसन्निवेश, अचल ग्राम आदि ग्रामों का वर्णन आया है।

भविष्य ब्रह्मखण्ड में मगध जनपद में तीन हजार ग्रामों का उल्लेख आया है। इनमें सात ग्राम मुख्य बतलाये गये हैं।

मगध की प्राचीन राजधानी गिरिव्रज अथवा राजगृह नगरी थी। इस नगरी की समृद्धि का वर्णन समस्त जैन साहित्य में विद्यमान है। राजगृह के क्षितिप्रतिष्ठ, चणकपुर, ऋषभपुर और कुशाग्रपुर नाम भी आये हैं। राजगृह में गुणशिल, मण्डिकुच्छ और मोग्गरपाणि आदि अनेक चैत्य मन्दिर निर्मित थे। गुणसिल चैत्य ही आधुनिक गुणावा है।

राजगृह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ से तक्षशिला, प्रतिष्ठान, कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि प्रसिद्ध भारतीय नगरों के जाने के मार्ग बने हुए थे। विविध तीर्थकल्प में राजगृह में छत्तीस हजार गृहों के होने का उल्लेख है। राजगृह के नगर सदा सुधा से पुते स्वच्छ और श्वेत दिखलायी पड़ते थे। उन्नत और विशाल अट्टालिकाएँ पथिकों के मन को आकृष्ट करती थीं। जैन साहित्य के वर्णनानुसार राजगृह का अभ्युदय कई शताब्दियों तक बना रहा।

पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी बनने का सौभाग्य नन्द और मौर्यवंश के राजाओं ने प्रदान किया। बताया गया है कि कुणिक के परलोक गमन के पश्चात् उसका पुत्र उदायी चम्पा का शासक नियुक्त हुआ। वह अपने पिता के सभा-स्थान, क्रीड़ास्थल, शयनस्थान आदि को देखकर पूर्वस्मृति के जाग्रत हो जाने से उद्विग्न रहता था। इसने प्रधान अमात्य से परामर्श कर नूतन नगर निर्माणार्थ प्रवीण नैमित्तिकों को आदेश दिया। वे नैमित्तिक भ्रमण करते हुए गंगातट पर आये। गुलाबी पुष्पों से सुसज्जित छवियुक्त पाटलिवृक्षों को देखकर वे आश्चर्य-चकित हुए। उन्होंने देखा कि एक वृक्ष की टहनी पर चाष नामक पक्षी मुँह खोले बैठा है। कीड़े स्वयं उसके मुँह में आ पड़ते थे। इस घटना को देखकर वे सोचने लगे कि यहाँ पर नगर का निर्माण होने से राजा को लक्ष्मी की प्राप्ति होगी। फलतः उस स्थान पर नगर बसाया; जिसका नाम पाटलिपुत्र रखा गया।

पाटलिपुत्र का अन्य नाम कुसुमपुर भी मिलता है। विविध तीर्थकल्प में कुसुम की बहुलता होने के कारण इसका कुसुमपुर नाम बताया गया है। सालिग्राम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के मनोरम उद्यान में सुमन यक्ष के चैत्य का वर्णन आता है। इस ग्राम को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध एवं धर्म नीतिमान् कहा गया है।[१]

सुग्राम की गणना भी वड़े ग्रामों में को गयी है। इस ग्राम का संबंध भवदत्त और भवदेव के साथ माना गया है। सुग्राम में सभी प्रकार के धान्य उत्पन्न होते थे और गन्ध, माल्य आदि का साधारण व्यक्ति भी उपयोग करते थे।[२]

कोल्लाग सन्निवेश मगध का प्रसिद्ध ग्राम[३] था। इसमें वित्त और सुधर्म स्वामी ने जन्म ग्रहण किया था। शरवण ग्राम मंखलि गोशाल का जन्मस्थान था[४]। नालन्दा राजगृह का एक उपनगर था,[५] यहाँ पर धनाढ्यों का निवास था। यहाँ श्रमण भगवान् महावीर ने कई वर्षावास किये थे। तुंगिया नगरी राजगृह के निकट स्थित थी। भगवती सूत्र से ज्ञात होता है कि तुंगिया के गृहस्थ धनी-मानी एवं हठधर्मी थे। गौतमरासा में बताया है कि गणधर इन्द्रभूति, अग्निभूति एवं वायुभूति का जन्मस्थान गोबर[६] ग्राम था, यह ग्राम मगध में शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बताया गया है।

पलास[७] ग्राम धन-धान्य से परिपूर्ण था। वैदिक संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। मगधवासी इस ग्राम को पवित्र मानते थे। अचल ग्राम[८] भी समृद्ध बतलाया गया है।

जम्भिक ग्राम[९] में भगवान् महावीर ने कैवल्य प्राप्त किया था। वर्तमान में यह जमुई ग्राम कहलाता है, जो वर्तमान मुंगेर से ५० मील दक्षिण एवं राजगृह

---

१. वसुदेव हिण्डी पृ० ८५
२. वही, पृ० २०
३. उवासगदसाओ
४. वसुदेवहिण्डी पृ० १७६ तथा १५५
५. सूत्रकृतांग २ श्रुत, सप्तम अध्ययन
६. कथाकोषप्रकरण, श्रेणिक कथा
७. वसुदेवहिण्डी पृ० २८
८. वही, पृ० ३२०
९. आचारांगसूत्र १ भाग पृ० २० तथा चन्दाबाई अभिनंदन ग्रंथ पृ० ६३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से ३५ मील दूरी पर स्थित है। यह ग्राम किल नदी के तट पर है, यह नदी ऋजुकूला या ऋष्यकूला का अपभ्रंश नाम है। किल स्टेशन से जमुई १८-१६ मील की दूरी पर है। जमुई से तीन मील दक्षिण एनमेगढ़ नामक एक प्राचीन टीला है। कनिंघम ने इसे इन्द्रद्युम्नपाल का माना है। यहाँ पर खुदाई में मिट्टी की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। जमुई और लिच्छवाड़ के बीच महादेव सिमरिया गाँव है। यहाँ सरोवर के मध्य ३००-४०० वर्ष प्राचीन मन्दिर है। जमुई से १५-१६ मील पर लक्खीसराय है। जमुई और राजगृह के बीच सिकन्दरा गाँव है। राजगृह और सिकन्दरा के मध्य अम्बसट्टिका का उल्लेख मिलता है। यह आम्रवन था। आजकल यह गाँव सिलाव कहलाता है।

पर्वतश्रेणियाँ एवं नदियाँ

मगध जनपद में राजगृह की ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, बलाहक और पाण्डुक ये पञ्च[1] पहाड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। इसी कारण इसे पञ्चशैलपुर कहा गया है।[2] गया से ३८ मील की दूरी पर कुलुआ पहाड़ स्थित है।[3] यह पहाड़ जंगल में है और इसकी चढ़ाई दो मील है। यहाँ सैकड़ों जैन मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हुए हैं। इस पर्वत पर दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ ने तपकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। शीतलनाथ का संबंध भद्दिलपुर से माना जाता है, यह भद्दिलपुर ही वर्तमान में भौंदिल नाम से प्रसिद्ध है।

गया के निकट रफीगंज से तीन मील पूर्व श्रावक नाम का पहाड़ है।[4] यह एक ही शिला का पर्वत है और दो फर्लाङ्ग इसकी ऊँचाई है। यहाँ वृक्ष नहीं हैं, किनारे-किनारे शिलाएँ हैं। पहाड़ के नीचे जो गाँव बसा है, उसका नाम श्रावकपुर है। पर्वत के ऊपर अस्सी गज जाने पर एक गुफा आती है, जिसमें पार्श्वनाथ का मन्दिर है।

गया जिले में औरंगाबाद की सीमा के पूर्व रफीगंज से दो मील की दूरी पर प्रचार या पचार[5] नामक पहाड़ है। यहाँ पर एक गुफा के बाहर भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर है।

---

१. हरिवंशपुराण ३।५५
२. धवलाटीका प्रथम भाग, पृ० ६१
३. कोटिशिला के नाम से कोलुआ पहाड़ का नाम जन साहित्य में पाया जाता है।
४. श्री० ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ६५२।
५. वही, ६५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपुलाचल पर भगवान् महावीर का प्रथमोपदेश हुआ था, अतः समस्त प्राचीन ग्रन्थों में इस पर्वत की महत्ता प्रतिपादित है।

मगध जनपद में गंगा, स्वर्णभद्र (सुमागधी), ऋजुकूला (किवल), मयूराक्षी सुवर्णरेखा, चानन, फल्गु प्रभृति नदियों के उल्लेख मिलते हैं। पाटलिपुत्र के वर्णन-प्रसंग में गंगा का निर्देश आता है। इस नदी के किनारे-किनारे चलकर भरत चक्रवर्ती की सेना गंगाद्वार[1] तक पहुँची थी। हिमालय की गंगोत्तरी झील से इसका प्रस्रवण प्रारम्भ होता है। त्रिलोकसार में गंगा के उत्पत्तिस्थान का विस्तृत वर्णन आया है।

शोण नदी का अन्य नाम मागधी[2] है। अपनी विशाल जलराशि और शोभित बालुकामय कणों के कारण यह शोणभद्र कहलाती है।

ऋजुकूला का उल्लेख तिलोयपण्णत्ति[3] और हरिवंशपुराण में पाया जाता है। यह ऋजुकूला वर्त्तमान में किवल नदी कहलाती है। मयूराक्षी राजगृह के आसपास कोई छोटी नदी रही है और सुवर्णरेखा गया जिले की पहाड़ी नदी है। मयूराक्षी राजगृह के आसपास कोई छोटी नदी रही है और सुवर्णरेखा गया जिले की पहाड़ी नदी है। चानना का नाम पुनः पुनः परिवर्तित प्रतीत होता है।

आर्थिक समृद्धि

मगध जनपद की आर्थिक समृद्धि का वर्णन पद्मचरित, कुवलयमाला, हरिवंशचरित, अभयकुमारचरित, श्रेणिकचरित, आख्यानमणिकोश, चउपन्न-महापुरिसचरिय, वसुदेवहिण्डी आदि ग्रन्थों में निबद्ध है। यह जनपद व्यापार का केन्द्र था, यहाँ विभिन्न देशों के व्यापारी आते थे। राजगृह नगरी में स्वर्ण, मौक्तिक, रजत, धान्य एवं विभिन्न धातुओं का क्रय-विक्रय होता था। कुवलय-माला में मगध जनपद के व्यापारियों का वर्णन करते हुए लिखा है—

णीहरिय-पोट्ट-दुव्वण्ण-मडहए सुरय-केलि-तल्लिच्छे।
'एगे ले' जंपुल्ले अह पेच्छइ मागहे कुमरो॥ अनुच्छेद २४६, पृ० १५२.

मगध देश के व्यापारियों का उदर स्थूल होने के कारण बाहर की ओर निकला रहता है। वे कुत्सित वर्णवाले, ठिंगने, कामक्रीड़ा में रसिक और 'एगेले'

---

१. आदि पुराण २६।४६; २८।१३;३२।१६३
२. वही, २६।४६; २६। १४६; २६;५२
३. तिलोयपण्णत्ति ४।७०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार बोलनेवाले होते हैं। मगध के व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाते थे, अतः मगधवासी सुखी एवं समृद्ध थे। वहाँ कोई दीन, दुःखी एवं निर्धन दिखलायी नहीं पड़ता था।

पद्मचरित में रविषेण ने "खद्भिर्भूमिर्लाभस्य वाणिजैः"[1] पद द्वारा मगध देश को व्यापारियों के लाभ की भूमि बताया है। यहाँ के सार्थवाह व्यापार के हेतु सामुद्रिक यान चलाते थे। पद्मचरित के अनुसार यहाँ पर कस्तूरी, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्र, अश्व, गज, ऊँट, गाय आदि का व्यापार होता था।

राजगृह में विशाल बाजार था[2] जहाँ देश-विदेश के व्यापारी एकत्र होते थे। माप की वस्तुओं में द्रोण एवं प्रस्थ का व्यवहार किया जाता था। स्थल मार्ग से कांस्य एवं अन्य धातुओं के वर्तनों का व्यापार होता था। राजगृह पूर्णतया समृद्ध एवं प्रसिद्ध था। जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था।

ग्रामवासी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचारपूर्वक अपनी आजीविका सम्पन्न करते थे। द्यूत भी धनार्जन का उपाय माना गया है। पर इतना सत्य है कि सभ्य समाज में द्यूत को घृणित समझा जाता था, अतः सभ्यों के सम्पर्क में पहुँचने पर द्यूत त्याग का व्रत दिलाया जाता था। ब्राह्मण पौरोहित्य और अध्यापन इन दोनों कार्यों द्वारा आजीविका सम्पन्न करते थे। नगरवासियों का जीवन विलासी एवं ग्रामीणों का सादा था।

राजगृह से विभिन्न स्थानों पर जाने के लिए मार्ग बने हुए थे, जिससे यातायात के साधन सुलभ रहने के कारण व्यापार में वृद्धि होती थी। प्रासाद, भवन और हर्म्य राजगृह की शोभा बढ़ाते थे। विभिन्न प्रकार के सरोवर, उद्यान एवं क्रीड़ागृहों द्वारा जनसाधारण का भी मनोरंजन होता था।

कृषि-व्यवस्था की दृष्टि से मगध जनपद पर्याप्त समृद्ध था। कूपों में सिंचाई[3] के लिए रहटों का प्रवन्ध था। उपजाऊ भूमि होने पर भी सिंचाई की सुदृढ़ व्यवस्था के कारण फसलों की उत्पत्ति पूर्ण-रूप से होती थी।[4] गन्ना, धान, गेहूँ, चना, कोदों, मूंग, उड़द, मक्का, मोंठ आदि समस्त धान्य उत्पन्न होते थे। मगध की धान्य उत्पत्ति में शूक, शिम्बी और तृण इन तीनों प्रकार के धान्यों की गणना

---

१. पद्मचरितम् २।४२
२. जंबुसामि चरिउ ८।३६ तथा ८।३।१३
३. पद्मचरितम् २।६
४. वही २।४, ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की गयी है। शूक धान्य के दो-दो भेद हैं—शालि और व्रीहि। हेमन्त में पकने वाले धान्य शालि कहलाते हैं। मगध का शालि धान प्राचीन काल में अतीव प्रसिद्ध था। ऐसा कहा जाता है कि महाशालि मगध से यूनानी लोगों के साथ यूनान तक गया।[१]

शूक धान्यों में गोधूम और यव की गणना है। शिम्बी धान्य में मूंग, मसूर, अरहर, चना और कुलत्थी आदि परिगणित हैं। खलिहानों में अनाज ढेर के एवं वहाँ की भूमि की उर्वरा शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

उर्वरायां वरीयोभिः शालेयैरलङ्कृतः।
मुद्गकोशीपुटैर्यस्मिन्नुद्देशाः कपिलत्विषः॥
अधिष्ठितः स्थलीपृष्ठैः श्रेष्ठगोधूमधामभिः।
प्रशस्यैरन्यसस्यैश्च युक्तः प्रत्यूहवर्जितैः॥ —पद्म० २।७।६

मगध की उपजाऊ भूमि में धान, मूँग, मौठ आदि अन्न तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते थे। गेहूँ की खेती विशेष रूप से होती थी। रक्षक खेतों की रखवाली करते हुए मधुर संगीत का आनन्द लेते थे। दुधारु पशुओं के स्तनों से दूध टपकता रहता था, जिससे मगध की भूमि सदा सुगन्धित रहती थी।

आर्थिक सुव्यवस्था इतनी अधिक थी, जिससे साधारण जनता भी गन्ध, माल्य, दुग्ध, घृत, शर्करा आदि जीवनोपयोगी पदार्थों का उपयोग करती थी। पथिक विश्राम के साथ भोजन भी प्राप्त करते थे। मगधनिवासियों को आवश्यकता की वस्तुएँ अल्प श्रम से ही प्राप्त हो जाती थीं। नाना प्रकार के फल, ताडवृक्ष एवं नारियल जनता को आनन्दित करते थे।

पथिकों के लिए प्याऊ, भोजनशालाएँ और विश्रामशालाएँ भी निर्मित थीं। अतिथि इस जनपद में अपने घर जैसा सुख एवं आनन्द प्राप्त करते थे। भौतिक सामग्री का प्राचुर्य था।

भोजन-पान एवं वेश-भूषा

मगध जनपद में सभी प्रकार के खाद्यान्न उत्पन्न होते थे, अतः वहाँ के निवासी चावल, रोटी, दाल आदि का व्यवहार करते थे। गौतमस्वामीचरित, मुनिसुव्रत काव्य और पद्मचरित में अन्न भोजन, पकान्न भोजन एवं फल भोजन का उल्लेख आया है। नायाधम्मकहाओ में अंकित धन्य सार्थवाह की कथा से

---

१. Zode—Studies in the Indian Cultural History. Vol. I, P. 265

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पष्ट है कि सामूहिक भोजन का निमंत्रण भी दिया जाता था। भोज और भोज्य पदार्थों का साङ्गोपाङ्ग चित्रण कथाकोषप्रकरण में आयी हुई शालिभद्र की कथा में उपलब्ध होता है। राजा श्रेणिक अपनी रानी चेलना के साथ सुभद्रा सेठानी के घर पहुँचता है। भोजन-मण्डप में बैठने पर सर्वप्रथम दाडिम, द्राक्षा, दंतधर, बेर, रायण आदि चर्वणीय पदार्थ उपस्थित किये जाते हैं। अनन्तर गन्ने की गंडेरी, खजूर, नारंगी, आम आदि चोष्य पदार्थ दिये गये। तत्पश्चात् विभिन्न प्रकार के स्वादु लेह्य पदार्थ प्रस्तुत किये गये। अशोक, वहीसक, सेव, मोदक, फेनी, सुकुमारिका, घेवर आदि अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ परोसे गये। इसके बाद सुगन्धित चावल, लाये गये। पुनः अनेक प्रकार के द्रव्यों से तैयार कढ़ी लाई गई। इसके पश्चात् दधिनिर्मित भोज्य पदार्थ और सबके अन्त में केसर, शर्करा और घृत मिश्रित आधा औंटा हुआ दूध दिया गया।

उवणीयाइं चव्वणीयाइं दाडिमदक्खादंतसर बोररायणाइं। तयणंतरमुवणीयं चोसं सुसमारियइक्खु-गंडियाखज्जूनारंग-अंबगाइभेयं। तयणंतर असोगवट्टि-सग्गव्वुयसेवा-मोयग-फेणिया-सुकुमारिया—घयपुण्णाइयं बहुभेयं भक्खं। तओ सुगंधसालिकूर - पहित्ति - सारय - घय - नाणा - सालणगाइं तओ अणेगदव्व-संजोइयनिव्वत्तिया कड्डिया। तओ अवणीयाइं भायणाइं। पडिग्गहेसु, सोहिया हत्था। नाणाविहदहिविहत्तीओ उवणीयाओ, तेण भुत्तं वदुचियं।"··· आणीयमद्धावट्टं परिहट्टिदुद्धं महुसक्कराघणसारसारं।—कथाकोष-प्रकरण गा० ८, कथा १० पृ० ५८।

ताम्बूल, सुपाड़ी, केसर आदि सुगन्धित पदार्थ भी भोजनोत्तर मुखशुद्धि के हेतु दिये जाते थे[1] 'जंबुसामिचरिउ' से भी भोजन-पान पर प्रकाश पड़ता है। वीर कवि ने लिखा है कि मीठे, खट्टे एवं चरपरे व्यञ्जनों का प्रयोग मगधवासी करते थे। कूर नामक (धान) से निर्मित चावल का भात घी से सिक्त कर ग्रहण किया जाता था। दधि, तक्र, अचार एवं चटनी का व्यवहार भी होता था। मूंग की उत्पत्ति मगध में बहुलता से होती थी, अतः मूंग के मीठे एवं नमकीन दोनों प्रकार के व्यञ्जन बनते थे।[2]

पेय पदार्थों में दुग्ध, जल, पानक, तक्र आदि का व्यवहार प्रचलित था। मगधवासी फलों के रसों का भी व्यवहार करते थे।[3]

१. कथाकोष प्रकरण, प० ५८-५९

२. तिणमयकायमाण संठियजणे। वारिपिसिचमाणचुय-जलकणे।

३. पिसुणलोयहियियं सकूरउ। सज्जणमणु व नेहपरिपूरउ "—जंबुसामि० ८।१३ पृ० १६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेश-भूषा में विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों का उपयोग आया है। मगधवासी परिधान-अधोवस्त्र एवं उत्तरीय का प्रयोग तो करते ही थे, पर अन्य प्रकार के सिले हुये वस्त्र भी व्यवहार में लाये जाते थे। वस्त्रों में रेशमी, सूती और ऊनी इन तीनों प्रकार के वस्त्रों का वर्णन आया है। क्षौम वस्त्र दुधिया रंग का कीमती, मुलायम और सूक्ष्म होता था। धनिक व्यक्ति क्षौम का व्यवहार भी करते थे। दुकूल वृक्ष की छाल के रेशों से बनाया जाता था और उत्सवों में इस वस्त्र का प्रयोग होता था। क्षौम और कौषेय वस्त्रों का व्यवहार साधारण जनता भी विवाह, पूजा-प्रतिष्ठा आदि के अवसरों पर करती थी। दुकूल स्निग्ध, मृदु और महार्घ्य माना गया है। अंशुक वस्त्र के कई भेद हैं—सितांशुक, समांशुक, और नीलांशुक आदि।[1] कुसुम्भ लाल रंग का रेशमी वस्त्र था, सूती लाल वस्त्र को भी कुसुम्भ कहा गया है। मगध के धनी-मानी रत्नकम्बल का व्यवहार करते थे। रत्न कम्बल नैपाल से आते थे तथा बहुत कीमती होते थे।[2]

आभूषणों में चूडामणि, किरीट, कुन्तलीहार, रत्नावली, कण्ठमालिका, ग्रैवेयक, कुण्डल, अंगद, केयूर, कटक, मुद्रिका, मेखला, रशना, काञ्ची, नूपुर आदि प्रमुख हैं। नर और नारी दोनों ही आभूषण पहनते थे। अन्य प्रसाधन सामग्री में केश, मुख एवं अन्य शारीरिक अंगों को सज्जीकृत करने के लिए केसर, कस्तूरी, पुष्प, अन्य सुगन्धित चूर्ण, गन्ध, माल्य, उद्वर्त्तन, कालागरु, विलेपन, सुगन्धित धूप एवं सुवासित करने की अन्य सामग्री परिगणित है।[3]

क्रीड़ा-विनोद एवं गोष्ठियाँ

मगध जनपद के निवासी मनोविनोद के हेतु नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे। वे कन्दुकक्रीडा, सहकारक्रीडा, जलक्रीडा, वनक्रीडा, दोलाक्रीडा एवं ऋतुक्रीडाओं में विशेष रुचि रखते थे। मनोरञ्जन के लिए संगीत, नाट्य, घुड़-दौड़, विनोदगोष्ठियाँ एवं काव्यचर्चाएँ भी उपयोगी मानी गयी हैं। कथा और काव्य के रसास्वादन द्वारा श्रम को दूर कर पुनः कार्यक्षमता प्राप्त करते थे।

मगध में संगीत का पूर्णतया प्रचार था। वीणा, मुरज, पणव, शंख, तूर्य, काहला, घण्टा, मृदंग, दुन्दुभि, तुणव, महापटह, दुष्कर, भेरी आदि वाद्य उत्सवों

---

१. कथाकोषप्रकरण की दसवीं कथा

२. कथाकोष प्रकरण पृ० ५८-५९ और पद्मचरित द्वितीय पर्व

३. उत्तराध्ययन—कपिल आख्यान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अवसरों पर तो बजाये ही जाते थे, पर मनोरंजन के हेतु भी इनका व्यवहार किया जाता था। पद्मचरित में बताया गया है—

> संगीतस्वनसंयुक्तैर्मयूररवमिश्रितैः।
> यस्मिन्मुरजनिर्घोषैर्मुखरं गगनं सदा॥ पद्म० २।२८
> गन्धर्वनगरं गीतशास्त्रकौशलकोविदैः। वही २।४०

वीणाएँ भी कई प्रकार की बतायी गयी हैं। ज्ञानपूर्वक गाये गीत को ललित गीत कहा गया है। मृदुगीत ध्वनि, तीव्रगति ध्वनि, एवं लययुक्त हल्की गीतध्वनि बतायी गयी हैं। मगध के गीतकार रागपूवक मूर्च्छनाओं का ध्यान रखते हुए स्वरविशेषों से अलंकृत कर गाते थे। वार-वनिताएँ गीत गाने में प्रवीण होती थीं।

मनोविनोद के लिए नृत्यकला का व्यवहार अपेक्षित था। नृत्य में निम्न-लिखित तत्त्वों का समावेश किया जाता था।

(१) भावों का अनुकरण।
(२) आङ्गिक अभिनय पर बल।
(३) भावों का अवलम्बन।
(४) कटाक्ष या मुस्कुराहट का प्रयोग।
(५) गतियों द्वारा नृत्य।
(६) शारीरिक चेष्टाओं का प्रदर्शन।
(७) हाव-भाव और विलास का प्रदर्शन।

मगध में नाना प्रकार के नृत्यों का प्रचार[1] था। ताण्डव नृत्य, अलातचक्र नृत्य, इन्द्रजाल नृत्य, चक्र नृत्य, सूची-नृत्य, लास्य नृत्य, कटाक्ष नृत्य, बहुरूपिणी नृत्य आदि का प्रचलन था। काव्यगोष्ठियों का आयोजन भी मनोरंजन के लिए किया जाता था। राजगृह में समय-समय पर काव्यगोष्ठियों की योजना होती रहती थी।[2]

द्यूत, जलक्रीडा और ऋतुक्रीडा का विशेष प्रचार था। राजगृह में वसन्तोत्सव सम्पन्न करने के लिए सभी जनता वन में प्रस्थान करती थी। और वन में नाना

---

१. मुनिसुव्रत काव्य प्रथम सर्ग, पद्मचरित द्वितीय पर्व एवं नायाधम्मकहाओ प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ एवं सप्तम अध्ययन

२. नायाधम्मकहाओ द्वितीय एवं सप्तम अध्ययन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार की पुष्पक्रीडाएँ, वन्यक्रीडाए एवं वनविहार द्वारा आनन्द प्राप्त किया जाता[1] था।

लोकधर्म

मगधवासी आत्मधर्म के साथ लोकधर्म का भी पालन करते थे। नायाधम्मकहाओ द्वारा लोकधर्म संबंधी प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। श्रमण और वैदिक दोनों ही लौकिक अभीष्ट-सिद्धि के लिए लोकधर्म को महत्त्व देते थे। आर्य-संस्कृति, द्रविड, निषाद एवं किरात—संस्कृतियों के सम्मिश्रण से एक ऐसी धार्मिक परम्परा आरम्भ हुई जो लोकधर्म के नाम से ख्यात हुई।

मगध जनपद में लौकिक चमत्कार, सिद्धियों एवं कामना पूर्त्ति के लिए लोकधर्म का आचरण अपेक्षित था। इस लोक धर्म का व्यवहार उत्सवों या मेलों द्वारा होता था। प्राचीन समय में धर्म प्रधान उत्सव मह या मख कहलाते थे। द्विजातियों के जीवन में जो स्थान वैदिक यज्ञों का था, वही स्थान मह नामक उत्सवों का था। 'नायाधम्मकहाओ' में मगध जनपद में सम्पन्न होने वाले पन्द्रह मह या उत्सवों का निर्देश आया है। यथा—

अज्ज रायगिहे नगरे इंदमहे इ वा खंदमहे इ वा एवं रुद्दसिववेसमणनाग-जक्ख-भूय-नई-तलाय-रुक्ख-चेइय पव्वयउज्जाण-गिरि-जत्ताइ वा जओ णं बहवे उग्गा भोगा जावगदिसिं एगाभिमुहा निग्गच्छंति। —नायाधम्म कहाओ १।२५ वैद्यसंस्करण पृ० २३

(१) इंदमह—इन्द्रमह (२) खंदमह—स्कन्दमह (३) रुद्दजत्ता—रुद्रयात्रा (४) सिवजत्ता—शिवयात्रा (५) वेसमणजत्ता—वैश्रवणयात्रा (६) नागजत्ता—नागयात्रा (७) जक्खजत्ता—यक्षयात्रा (८) भूयजत्ता—भूतयात्रा (९) नईजत्ता—नदीयात्रा (१०) तलावजत्ता—तडागयात्रा (११) रुक्खजत्ता—वृक्षयात्रा (१२) चेइयजत्ता—चैत्ययात्रा (१३) पव्वयजत्ता—पर्वतयात्रा (१४) उज्जाण जत्ता—उद्यानयात्रा (१५) गिरिजत्ता—गिरियात्रा।

रायपसेणिय सुत्त में जत्ता के स्थान पर मह पाठ प्राप्त होता है। इन्द्रमह उत्सव विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृषि के विकास और समुचित वर्षा के लिए यह धर्मानुष्ठान किया जाता था। वर्षा ऋतु में प्रजा और राजा मिलकर देवराज इन्द्र का पूजन करते थे। इन्द्रमह में फल, गन्ना, केला एवं मिष्टान्नों से इन्द्र की पूजा-

---

१. जंबुसामिचरिउ ८।१; १।१० तथा वसुदेवहिण्डी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि सम्पन्न होती थी। चावल और गुड़ का भी उपयोग किया जाता था। यह जातीय पर्व राष्ट्रीय उत्सव था। इसमें अनाज की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए इन्द्र की पूजा और रथोत्सव किये जाते थे।

खंदमह से तात्पर्य स्कन्दपूजा से है। फाल्गुन, आषाढ़ एवं कार्त्तिक मास में कृष्णपक्ष में षष्ठी तिथि को स्कन्दपूजा होती थी। स्कन्द को षडानन, ब्रह्मण्य और कार्त्तिकेय भी कहा गया है। आरम्भ में विघ्न-बाधाओं से भयभीत होकर पिशाच के रूप में स्कन्द की पूजा आरम्भ हुई थी। अनन्तर रुद्र के साथ स्कन्द का समन्वय हुआ, पश्चात् अग्नि के साथ और अन्त में रुद्र के साथ स्कन्द की पूजा होने लगी। स्कन्दविकास गुप्तकाल में विशेष रूप से हुआ और वह देव-सेनापति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इस विकासक्रम में एक छोटी-सी शाखा और भी निकली, जिसके अनुसार स्कन्द बालग्रह या बच्चों का रक्षक देवता बन गया है। कुषाणकाल में अभीष्ट सिद्धि के लिए स्कन्द की पूजा अधिक होती थी। इस प्रकार एक ओर इन्हें युद्धदेवता के रूप में मान्यता प्राप्त हुई और दूसरी ओर शक्तिधर के रूप में। स्कन्द के अनुशासन में अनेक देवता थे, जो भक्तों के कार्यों की सिद्धि करते थे।

नागमह में नाग देवता का उत्सव सम्पन्न किया जाता था। नागपूजा यक्षपूजा से भी प्राचीन है। नाग का सम्बन्ध सभी देवों के साथ है। कई प्राकृत आख्यानों में नागदेव द्वारा असम्भव कार्य सम्पादित किये जाने की बात कही गयी है।[1] नागपूजा का महत्त्व भी कथाओं में आया है।

वृक्षपूजा का प्रचार भी प्राचीन भारत में पर्याप्त था। पीपल वट, तुलसी और आमल आदि की पूजा आज भी प्रचलित है। गाँव का कोई भी ऐसा वृक्ष, जो पत्तों से खूब छतनार हो और फलों से लदा हो तो अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण पूजनीय बन जाता है। 'नायाधम्मकहाओ' के उल्लेख से स्पष्ट है कि जिस प्रकार वृक्ष की पूजा और उत्सव सम्पन्न किये जाते थे, उसी प्रकार वृक्षों से भरे हुए उद्यान में उत्सव, क्रीडा, गोष्ठी, समाज आदि का आयोजन किया जाता था। सिद्धर्षिकृत 'उपमितिभवप्रपञ्च कथा' में उद्यान के महोत्सव का बहुत सुन्दर वर्णन आया है। इस कथा से यह भी विदित होता है कि ऐसे अवसरों पर विशेष भोज का भी प्रबन्ध रहता था। उद्यानक्रीडा वसन्त ऋतु में सम्पन्न होती थी।

---

१. आरामसोहाकहा, आरा संस्करण, पृ० १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन आगम साहित्य में सर्वत्र यक्षपूजा के प्रचार के निर्देश उपलब्ध होते हैं। यक्ष को सबसे प्रमुख देवता बतलाया गया है। मुग्गरपाणि यक्ष की कथा से सभी परिचित हैं। शनैः-शनैः आर्य देवों के सम्पर्क में आने से उनका प्रभाव बढ़ा और उन्हें यक्षों की तुलना में ऊँचा स्थान दिया जाने लगा।

आत्मिक धर्म का विकास होने से मगध में यक्ष का स्थान गिरने लगा और वह भी भूत-पिशाचों की श्रेणी में सम्मिलित हो गया। जैनवाङ्मय में प्रत्येक तीर्थंकर के साथ आरक्षक देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षिणियों का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

रुद्र, तडाग, चैत्य, पर्वत्य एवं गिरि आदि की पूजा भी उत्सवपूर्वक सम्पन्न की जाती थी। मगध जनपद में आत्मधर्म के साथ लोकधर्म का भी प्रचार था। लोकधर्म का आचरण प्रायः सभी सम्प्रदाय के व्यक्ति समान रूप से करते थे।

आचार-व्यवहार और रीति-रिवाज

जैन संस्कृत और अपभ्रंश ग्रन्थों से अवगत होता है कि मगध जनपद में जन्म, विवाह, वार्धापन संस्कार, विद्यारम्भ आदि अवसरों पर अनेक प्रकार के रीति-रिवाज प्रचलित थे। शिशु के जन्म के समय पड़ोस की स्त्रियाँ अक्षतपूर्ण पात्र लेकर बधाई देने जाती थीं, सधवा स्त्रियाँ नृत्य-गान करती थीं और उन्हें गृह-पत्नी की ओर से गुड़, घी देकर विदा किया जाता था। उपाध्याय सूतमातृका का पाठ करते थे और वस्त्र तथा ताम्बूल द्वारा उनका स्वागत किया जाता था। छट्ठी के दिन जागरणोत्सव सम्पन्न किया जाता था और बारहवें दिन बालक का नामकरण-संस्कार सम्पन्न होता था।[1]

पाँच वर्ष की अवस्था में शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि एवं शुभ वार में विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न किया जाता था। बालक को विविध वस्त्राभूषणों से सज्जाकर

१—नृत्यन्त्यविधवाः नार्यः गीतं गायन्ति गायकाः।
आयान्त्यातपत्राणि गुडसर्पिश्च दीयते ॥
उपाध्याया वृताश्चेहः पठद्भिः सूतमातृकाम्।
गृहमायान्ति किं बाला सद्बुद्धिमुपजीवितुम् ॥
उपाध्यायाः प्रपूज्यन्ते वस्त्रताम्बूलदानतः।
छात्राणां मृक्ष्यते शीर्षं दीयन्ते गुडपिण्डिकाः ॥
तृतीये दिवसे चन्द्रसूर्यौ बालस्य दर्शितौ।
षष्ठेऽह्नि स्वजना रत्तस्य कर्म जागरिकां व्यधुः ॥
—अभयकुमार चरित १।३९७-४१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाद्य-संगीतपूर्वक गुरु के समक्ष अथवा पाठशाला में पहुँचाया जाता था। सरस्वती और उपाध्याय की पूजा की जाती थी। अनन्तर उपाध्याय प्रथम पाठ पढ़ाता था और उपस्थित व्यक्तियों को मिष्टान्न वितरित किया जाता था।[1]

विवाह-संस्कार के समय सर्वप्रथम घर को स्वच्छ किया जाता था। लिपाई-पुताई होने के पश्चात् तोरण और बन्दनवार बाँधे जाते थे। मण्डप बनवाना, सजाना, स्थान-स्थान पर सुगन्धित चूर्ण छिड़कना, विविध रंगों से चौक पूरना, सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ लटकाना एवं वाद्य-संगीत-नृत्य आदि की व्यवस्था सम्पन्न की जाती थी। वर के हाथ में स्वर्णमिय कंगन, स्वच्छ रंगीन वस्त्र, सुगन्धित पुष्पों का मुकुट और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का शरीर पर लेप किया जाता था। कन्यादान के समय पिता जलाञ्जलि और दहेज[2] देता था।

अभयकुमार चरित में बताया गया है कि सर्वप्रथम सौभाग्यवती स्त्रियाँ वर और कन्या का तेल द्वारा अभ्यंग तथा पिष्टिका से उद्वर्त्तन करती थीं। पश्चात् स्नान कराकर कौसुम्भ वस्त्र धारण करातीं। वर को स्नान क्रिया के पश्चात् सधवा स्त्रियाँ मंचिका पर बैठकर उसका तिलक करतीं। केशों को सुगन्धित धूप से सुवासित किया जाता। पैरों में लाक्षा रस, कपोलों पर पत्र-वल्ली, आँखों में अंजन, ललाट में चन्दन एवं केशों में पुष्प लगाये जाते थे। श्वेत परिधान पहना-कर सिर पर पुष्पों का मुकुट धारण किया जाता था। अंग-प्रत्यंग को विविध प्रकार के अभूषणों से सज्जित किया जाता।

वर वाहन पर आरुढ़ होकर मण्डप द्वार पर आता था। इस अवसर पर उसके ऊपर चँवर हिलाये जाते थे और मंगलपाठ किया जाता था। विविध प्रकार के वाद्य बजाये जाते थे, स्त्रियाँ नृत्य करती थीं और वे वर के पीछे खड़ी होकर अक्षिदोष घात के लिए लवण उतारती थीं। जब वर मण्डप द्वार पर पहुँचता था, तो वह वाहन से उतर कर खड़ा हो जाता, स्त्रियाँ मण्डप द्वार पर दूर्वादि पात्र, मुशल तथा मथानी रखती थीं। एक स्त्री सराव-युग्म में अग्नि लवण रखती। इसी समय वर को अर्घ्य दिया जाता था। वर के ऊपर अक्षत छोड़कर उसके भाल को मथानी और मुशल से स्पर्श करते थे। वर सराव-युग्म को वामपाद से फोड़ देता था। इसके पश्चात् वर को बधू के समीप ले जाया जाता। वर बधू के सम्मुख विस्तर पर बैठ जाता था। इस समय एक ऐसी महिला जिसके पुत्र, पति,

---

१. अभयकुमार चरित १।४१६-४२९

२. जंबुसामिचरिउ ८।९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सास, ससुर, पिता, माता, भाई, देवर आदि सभी जीवित होते, अश्वत्थ और शमी की छाल को पीसकर उसका लेप बधू के कर में करती थी। शुभ मुहूर्त्त में वर बधू का हाथ अपने हाथ में लेता था, इसी समय तारा मिलन होता था और वर बधू आपस में एक दूसरे को देखते थे और विप्र दोनों के वस्त्र-प्रान्तों में गाँठ लगा देता था। इसके पश्चात् वर बधू के साथ वेदिका पर जाता था।

विप्र मन्त्र पाठ करता था और वर अग्नि में सात बार धान क्षेपण करता था। वर वधू सहित अग्नि की प्रदक्षिणा करता था। चार प्रदक्षिणा करने पर दहेज में अश्व, सुवर्ण, धन आदि प्राप्त होते थे। करमोचन के साथ वस्त्रमोचन भी हो जाता था। वर बधू को लेकर अपने निवास-स्थान पर चला जाता था। नान्दी पाठ होता था, नृत्य-गान सम्पन्न होता और हर्ष-ध्वनि की जाती थी। [1]

चोरी एवं अन्य अपराधों के समय अपराधियों को दण्ड देने की विभिन्न प्रथाएँ प्रचलित थीं। चोर के शरीर को धातुमय चूर्ण से काला कर उसके गले में सराव मालिका पहना दी जाती थी। चोर के सिर पर करवीर पुष्प और कन्धे पर शूल रख दी जाती थी। उसके सिर पर जीर्ण सूर्प का छत्र लगाकर पूँछ, कान रहित गर्दभ पर बैठाकर सारे नगर में घुमाते हुए वधस्थल पर ले जाते थे। गर्दभस्थ चोर के पीछे कल-कल करते हुए बालक लग जाते थे। चोर के आगे डिंडिम की कर्कश ध्वनि होती चलती थी। चोरी करनेवाले को अपमानपूर्वक मृत्यु का सामना करना पड़ता। [2]

पुत्र के अपराध पर पिता को दण्ड दिये जाने की प्रथा प्रचलित[3] थी। अपराधियों को दण्ड देते समय विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाज विद्यमान थे।

स्वप्न, शकुन, अपशकुन, तन्त्र-मन्त्र एवं जड़ी-बूटी संबंधी विश्वास प्राचीन मगधवासियों में प्रचलित थे। [4] ज्योतिषी और पण्डितों का समाज में सम्मान होता था। [5]

शिक्षा-साहित्य

मगध—जनपद शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में सदा गतिशील रहा है। यहाँ

---

१. अभयकुमार चरित पाण्डुलिपि २।१०१-१५६
२. वही, ६।६६०-६६८
३. अपत्यापराधे पितृनिग्रहो भवेत्।—अभयकुमार चरित ४।२५८
४. अभयकुमार चरित ६।४०-५६
५. तिथिपत्रं करे गृहीत्वा—अभय० ६। ५०-५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक आचार्य-गृह शिक्षालय था। गुरुकुल और पाठशालाओं के साथ यहाँ बड़े-बड़े शिक्षालय भी विद्यमान थे। गुरु के घर पर भी शिक्षा ग्रहण की जाती थी।[1] व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, निघण्टु, काव्य एवं छन्द-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। राजपुरुषों को हस्ति, अश्व एवं युद्ध कला की शिक्षा दी जाती थी। नृत्य, गान, वादन एवं संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ से सम्बद्ध नाना विषयों की शिक्षा आवश्यक थी। जंबुसामिचरिउ में राजगृह नगरी में दी जानेवाली शिक्षा का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

भासातय ः क्खणु-लक्खु मुणिउ। दंसण-नएहिं सहुँ तक्कु सुणिउ ॥
छंदालंकार-निघंटसत्थु। धम्मत्थ-कामकारणु पसत्थु ॥
गायव्वउ नच्चेव्वउ सचित्तु। वीणाइवज्जु जाणिउ विचित्तु ॥
—जंबु ४।१२.

काव्यरचना, प्रहेलिकाओं का उत्तर देना, अनेक प्रश्नों का उत्तर एक ही वाक्य में देना आदि शिक्षा के अंग थे। अभयकुमार चरित में बताया है कि मेघकुमार अपनी पत्नियों के साथ गूढ़ प्रहेलिका, चतुर्थक, अन्त्याक्षरी आदि के द्वारा अनुरंजन करता था। पत्नियाँ पूछती हैं—

किमंकुरजनी हेतुः किं भोज्यं स्वर्गवासिनाम्।
नारी वाञ्छति भर्त्तारं कीदृशं पतिदेवता ॥
दयायान्ति मुनीन्द्राः किं सदा तद्गतमानसा।
प्रियैकेनैववाक्येन चतुर्णा किमुत्तरम् ॥ अभय कु० ३।१७६-१७७
उपर्युक्त चारों प्रश्नों का एक ही "अमृतम्" उत्तर है।

इस प्रकार मगध जनपद में शिक्षा-साहित्य का पूर्ण प्रचार था। इन्द्रभूति स्वयं सैकड़ों विद्वानों का गुरु था और उसकी अध्ययनशाला में पाँच सौ प्रतिभाशाली सुबुद्ध शिष्य शिक्षा प्राप्त करते थे। शान्तिनाथचरित में मगध भूमि को शिक्षा-साहित्य की जननी कहा है।

भाषा

भाषा की दृष्टि से मगध जनपद का महत्त्व सभी जनपदों की अपेक्षा अधिक है। पूर्व बोली का मागधी नामकरण मगध के नाम पर ही हुआ है। पूर्व प्रदेश

१. धम्मसद्धियाणं गुरुकुलवासो जुत्तो।—श्रेणिक कथानक, कथाकोष प्रकरण पृ० १०४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की भाषा मागधी और पश्चिम की शौरसेनी कहलाती थी। अर्धमागधी में आधे शब्द मगध देश की भाषा के और आधे शब्द इतर जनपदों की भाषा के हैं। अर्धमागधी को—"अट्ठारसदेसीभासानियमं वा अद्धमगहं" अर्थात् अठारह देशी भाषाओं का मिश्रण माना है। वागभट्ट ने भी अपने काव्यानुशासन में इसे समस्त भाषामय कहा है—

सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।—काव्यानुशासन पृ० २।

समवायाङ्ग सूत्र में अर्धमागधी की विशेषताओं का निरूपण करते हुए इस पर आर्य और अनार्य दोनों ही भाषाओं का प्रभाव माना है। बताया है—"भगवान् अर्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश देते थे। यह शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपों के लिए उनकी अपनी-अपनी बोली में परिणत हो जाती थी।"[1]

ओववाइयसुत्त में भी लिखा है - "अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।" अर्थात् अर्धमागधी भाषा का सम्बन्ध आर्य और अनार्य भाषाओं के साथ था। यह भाषा मागधी के संयोग से ही निर्मित थी।

मगध जनपद में जनभाषा मागधी थी और इसका व्यवहार सभी व्यक्ति करते थे। राजान्य या सम्भ्रान्त वर्ग में संस्कृत भाषा का भी व्यवहार किया जाता था। आचारांग सूत्रवृत्ति में बताया है कि मगध में ग्वालिनें भी अकस्मात् जैसे शब्दों का प्रयोग करती हैं। वृक्ष को मगध में 'ओदणो' कहा जाता है। भाषा की दृष्टि से मगध का शासन प्रायः समस्त पूर्वी प्रदेश पर था। काशी से लेकर आधुनिक विहार, बंगाल, असम और उड़ीसा के पूर्वी प्रदेश में यह भाषा प्रयुक्त होती थी।

साहित्य-प्रणयन एवं संकलन

जैन दर्शन के मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र का प्रणयन पाटलिपुत्र में हुआ है। मगध के भयंकर दुष्काल के समाप्त होने पर स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन श्रमणों

---

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पयमियपसुपक्खि-सरिसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदाए भासत्ताए परिणमइ।—समवायाङ्ग, अहमदाबाद, सन् १९३८ सूत्र ९८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का सम्मेलन बुलाया, जिसमें श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए खण्ड-खण्ड कर ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। दृष्टिप्रवाद किसी को स्मृत न होने के कारण पूर्वों का संकलन-सम्पादन नहीं हो सका। चतुर्दश पूर्वधारी केवल भद्रबाहु ही थे, जो पाटलिपुत्र से बाहर थे। अतः संघ की ओर से पूर्वों का ज्ञान सम्पादन करने के लिए कुछ साधुओं को आचार्य भद्रबाहु के पास भेजा गया। स्थूलभद्र ने कतिपय पूर्वों का अध्ययन किया और जो ज्ञान उन्हें उपलब्ध हुआ, उसे पाटलिपुत्र सम्मेलन में सिद्धान्त रूप से संकलित कर लिया गया। इस प्रकार जैनागमों की पाटलिपुत्र वाचना प्रसिद्ध हुई।[1]

भगवान् महावीर का प्रथमोपदेश मगध की भूमि में ही हुआ। राजगृह के विपुलाचल पर उनके समवशरण की रचना की गयी तथा यहीं पर जैनागमों का उपदेश तीर्थंकर महावीर द्वारा दिया गया है।

पौराणिक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति

मगध जनपद में तीर्थंकर, आचार्य, कवि, लेखक, सम्राट्, सामन्त, राजा, अमात्य एवं अनेक दिव्य पुरुषों ने जन्म ग्रहण किया है। मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर, गौतम इन्द्रभूति, भाष्यकार, भद्रबाहु, नन्दिमित्र, गोवर्धन, जंबुस्वामी, मक्खलि गोशाल, श्रेणिक, अजातशत्रु, उदायी, चन्द्रगुप्त, अशोक, सम्प्रति, शकटाल. स्थूलभद्र, श्रीयक, मेघकुमार, पारासर, कपिल आदि अनेक पुरुषों की जन्मभूमि और कर्मभूमि मगध है। मगध से संबंधित जैन पुराणों में लगभग सौ-डेढ़ सौ कथाएँ मिलती हैं।

उपसंहार

मगध में मौर्यवंशी राजाओं ने एक विशाल और सुगठित साम्राज्य की स्थापना की थी। इसके पश्चात् लगभग एक हजार वर्षों तक मगध भारतवर्ष का राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, कण्व, शुंग, सातवाहन,

---

१. आवश्यक चूर्णि २, पृ० १८७। हरिभद्र ने उपदेशपद में लिखा है :—
जाओ अ तम्मि समये दुक्कालो दो य दसम्मि वरिसाणि।
सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणमाइ संघडिउं।
तं सव्व एक्कारय अंगाइं तहेव उवियाइं॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुप्त और पाल इन सभी वंशों ने मगध पर राज्य किया। राजवंशों का परिवर्तन होता रहा, कितने विदेशी आक्रमण हुए पर मगध की जीवनी शक्ति का कभी विनाश नहीं हुआ। इस केन्द्र से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रकाश विभिन्न दिशाओं में व्याप्त होता रहा। ई० पू० ६ठी शताब्दी से लेकर ई० ६ठी शती तक यहाँ से राज्य धुरा का चक्र प्रचलित होता रहा है। मगध ने सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अन्ताराष्ट्रिय मान्यता प्राप्त की थी। वस्तुतः मगध का इतिहास राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान से आरम्भ होता है और नालन्दा के पतन के साथ समाप्त हो जाता है।

—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश की एक नवीन उपलब्ध रससिक्त रचना : 'पुण्णासवकहा'[1]

प्रो० डॉ० राजाराम जैन

अपभ्रंश-साहित्य का भाषाशास्त्र एवं काव्यरूपों की दृष्टि से जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक उसका महत्त्व आख्यान-साहित्य की दृष्टि से है। अपभ्रंश के प्रायः समस्त कवि आचार एवं दार्शनिक तथ्यों तथा लोकजीवन की अभिव्यञ्जना कथाओं के परिवेश द्वारा करते रहे हैं। इस प्रकार के आख्यानों के माध्यम से अपभ्रंश-साहित्य में मानव-जीवन एवं जगत् की विविध मूक भावनाएँ एवं अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। इसमें यदि एक ओर नैतिक एवं धार्मिक आदर्शों की गंगा-जमुनी प्रवाहित हुई है, तो दूसरी ओर लोकजीवन से प्रादुर्भूत ऐहिक-रस के मदमाते रससिक्त निर्झर भी फूट पड़े हैं। एक ओर वह पुराण-पुरुषों के महामहिम चरितों से समृद्ध है तो दूसरी ओर वणिक्पुत्रों अथवा सामान्यवर्ग के व्यक्तियों के सुखों-दुखों अथवा रोमांसपूर्ण कथाओं से परिव्याप्त हैं। श्रद्धा-समन्वित भावभीनी स्तुतियों, सरस एवं मार्मिक सूक्तियों तथा ऐश्वर्य, वैभव एवं भोग-विलासजन्य वातावरण, वन-विहार, संगीत-गोष्ठियाँ, आखेट एवं जल-क्रीड़ाएँ आदि सम्बन्धी विविध चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रंश-साहित्य की विशाल चित्रशाला अलंकृत है। नारी-जीवन में क्रान्ति की सर्वप्रथम चिनगारी अपभ्रंश-साहित्य में दिखलाई पड़ती है। महासती सीता, रानी रेवती, महामति अनन्तमती, महारानी चेलनी प्रभृति नारी पात्रों ने इस दृष्टि से अपभ्रंश के आख्यान-साहित्य में एक नवीन जीवन ही प्राप्त किया है। महाकवि रइधू कृत 'पुण्णासवकहा' उक्त समस्त तथ्यों के लिए एक उत्कृष्ट एवं अनुपम उदाहरण है।

'पुण्णासवकहा' की प्रति का परिचय एवं उसके ग्रन्थकार महाकवि रइधू के विषय में अन्यत्र विस्तृत चर्चा की जा चुकी है[2] अतः यहाँ उसे अनावश्यक समझ-

---

१.—ऐ० प० स० जैन भवन व्यावर से उपलब्ध प्रति के आधार पर प्रस्तुत परिचय

२.—दे० 'परिषद्-पत्रिका' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना) वर्ष ९ अंक ४ (जनवरी, १९७०) पृ० १९-२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर ग्रन्थ की विषयवस्तु एवं उसका परिशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

प्रस्तुत 'पुण्णासवकहा' में कुल १४ सन्धियाँ एवं कुल २४८ कड़वक हैं। समग्र ग्रन्थ अपभ्रंश-भाषा में निबद्ध है। अभी तक ज्ञात एवं उपलब्ध समस्त अपभ्रंश-साहित्य में 'पुण्णासवकहा' नामांकित प्रस्तुत ग्रन्थ ही ज्ञात एवं उपलब्ध सर्वप्रथम कृति है। यही इसकी विशेषता है।

इस रचना में कुल मिलाकर विविध विषयक २७ कथाएँ हैं, जो निम्नलिखित ७ अधिकारों में प्रसंग-प्राप्त हैं :—

१. अष्टांग वर्णनाधिकार
२. पूजा-फल वर्णनाधिकार
३. पंचनमस्कारमन्त्र फलाधिकार
४. शील प्रभावाधिकार
५. श्रावकाचार वर्णनाधिकार
६. उपवासफल वर्णनाधिकार एवं
७. दानफलाधिकार

प्रथम सन्धि में लेखक ने मंगलाचरण एवं प्रशस्ति-लेखन आदि के बाद वर्ण्य-विषय की भूमिका तैयार की है तथा पुण्य एवं धर्म का मर्म बतलाते हुए सम्यक्त्व के अष्टमद आदि पच्चीस दोषों की चर्चा की है।

दूसरी सन्धि में निःकांकित अंग सम्बन्धी प्रथम कथानक—'अञ्जनचोर' निबद्ध किया गया है तथा उसके अन्तर्गत ऋषि जमदग्नि एवं रेणुका, सुभौम चक्रवर्त्ती एवं जिनदत्त सेठ की अवान्तर कथाएँ उपलब्ध हैं।

तीसरी सन्धि में निःकांकित एवं निर्विचिकित्सा अंगों के वर्णन प्रसंगों में क्रमशः अनन्तमती एवं उदितोदय की कथाएँ हैं।

चौथी सन्धि में अमूढदृष्टि अंग वर्णन तथा उदाहरण स्वरूप रानी रेवती की कथा आई है।

पाँचवीं सन्धि में उपगूहन एवं स्थितिकरण अंगों के अन्तर्गत क्रमशः जिनदत्त सेठ एवं वारिषेण की कथाएँ हैं।

छठवीं सन्धि में वात्सल्य अङ्ग के उदाहरणस्वरूप मुनि विष्णुकुमार कथा तथा सातवीं सन्धि में प्रभावना अङ्ग की पोषक वज्रकुमार कथा वर्णित है।

आठवीं एवं नवीं सन्धि में जिनपूजा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उसके समर्थन में दो मालिनों की कथा प्रमुख रूप से तथा अवान्तर कथा के रूप में नगरदत्त सेठ, रत्नशेखर एवं घनवाहन, हरिपति कुलंकर, भरत एवं कलिकुंड की कथाएँ प्रस्तुत हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दसवीं सन्धि में पञ्चनमस्कार मन्त्रफल की महत्ता प्रदर्शित करते हुए सेठ पंकजरुचि, वृषभध्वज, चारुदत्त सेठ तथा धरणेन्द्र एवं पद्मावती की कथाएँ ग्रथित हैं।

ग्यारहवीं एवं बारहवीं सन्धियों में शील के प्रभाव को बतलाने वाली दो कथाएँ—सुलोचनाचरित एवं सीताचरित प्राप्त होती हैं।

तेरहवीं सन्धि में श्रावकाचार का वर्णन है, जिसमें कवि ने ग्यारह प्रतिमाओं तथा श्रावक के व्रतों का विश्लेषण किया है। तत्पश्चात् 'उपवासफल वर्णन' में नागकुमार एवं भविष्यदत्त का नामोल्लेख करके चाणक्य चन्द्रगुप्त एवं आचार्य भद्रबाहु का विस्तृत कथानक अंकित किया है।

अन्तिम चौदहवीं सन्धि में कवि ने 'दानफल' की मार्मिक चर्चा की है और उसके समर्थन में सुकेतु सेठ का सरस आख्यान लिखा है। अन्त में लेखक ने ऋषभदेव के सोमवंश का परिचय देते हुए अपने आश्रयदाता साहू नेमदास को भी उसी वंश का बतलाया है।

उक्त कथाओं के प्रस्तुतीकरण में कवि ने महापुराण (जिनसेन), हरिवंश पुराण (जिनसेन), पद्मपुराण (रविषेण), भद्रबाहुचरित (रत्ननन्दी) एवं पुण्याश्रव कथा (रामचन्द्र मुमुक्षु), जैसे पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से तथ्य ग्रहण किये हैं, फिर भी शैली एवं गठन की दृष्टि से 'पुण्णासवकहा' में सर्वत्र मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः प्रबन्धशैली में उपदेशात्मक आख्यानों के माध्यम से कई गहन सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर कवि ने एक महत्त्व पूर्ण कार्य किया है।

कवि रइधू ने वर्ण्य विषय की उत्थानिका में बड़ी ही पटुता से कार्य किया है। उन्होंने प्रश्नोत्तरी-शैली में सर्वप्रथम पुण्य एवं धर्म का विश्लेषण किया है। मगध-नरेश महाराज श्रेणिक गौतम गणधर से पूछते हैं कि पुण्य एवं धर्म में क्या भेद है? मुझे तो उसमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता! जिस प्रकार गाय एवं भैंस दोनों के ही दूध पुष्टिकारक एवं मधुर होते हैं, उसी प्रकार पुण्य एवं धर्म भी सुखकार होते हैं। हे गणधर, यदि उनमें कोई अन्तर हो तो कृपाकर कहिए—

किवि भणहि पुण्णु कायव्वु होई। तिं विणु किंपि ण पावियइ लोई।
किवि भासहि हिययरु हवइ धम्मु। तिं वज्जिउ विहलउ मणुवजम्मु॥
पुण्णहु धम्महु के णाम भेउ। किं कोवि अवर आयमहँ हेउ॥
हउँ मुणमि गावि महिसीहिँ दुद्ध। तणु पुट्ठि पयासइ जिह सणिद्ध॥
तिह पुण्णें धम्में सुक्ख होंति। अंतरु ण कोवि इह मज्झु भंति॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तहो भण-संसय-तम-हरण-भाणु । ता आहासइ गणहरपहाणु ॥
पुण्णासव ८।१ । ३—८

यह सुनकर गौतम गणधर ने उत्तर में कहा कि "हे राजन्, यद्यपि भैंस का दूध मधुर एवं पुष्टिकर है फिर भी उसमें जिस प्रकार रोगों को दूर करने की क्षमता नहीं है, वह मात्र शरीरवृद्धि करता है, उसी प्रकार पुण्य से भी मात्र जगत्-प्रसिद्ध सांसारिक भोगोपभोग ही प्राप्त हो सकते हैं और गाय के दूध से जिस प्रकार रोगभार नष्ट हो जाता है तथा शरीर को कान्ति निर्मल हो जाती है, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध धर्म से भवभ्रमण नष्ट हो जाता है, मनुष्य एवं देवगति के सुख-भोगों का अनुभवन करते हुए मोक्ष को प्राप्त करता है।" यही उक्त पुण्य एवं धर्म में अन्तर है—

भो भव्व राय आयण्णि इट्ठु । पुण्णहं धम्महु अंतरु गरिट्ठु ॥

घत्ता

महिसीहि खीरुवरु जइवि पुट्ठियरु तहँ वि रोउ णो हट्टइ ।
तिह पुण्णेँ वद्धउ तिजय पसिद्धउ भवि-भवि भोए पवट्टइ ॥ ८॥
पुण्णा० १ । ८ ६ । ११

गोखीरु वि रोय भारु णिण्णासइ । तणु-तणु णिम्मल कंति पयासइ ॥
तिह धम्मु वि भवभमणु विहँजिवि । णरसुरभव सुक्खइँ अणुहोंजिवि ॥
सिवपउ पावइ धम्मविशुद्धउ । एहु भेउ णं मुणहि पसिद्धउ ॥
पुण्णा० १। ६ । १—३.

राजा श्रेणिक को पुण्य एवं पाप का यह भेद बड़ा आश्चर्यजनक लगा अतः उसने गणधर से पुनः निवेदन किया कि महाराज, तब तो कृपाकर धर्म एवं पुण्य का स्वरूप मुझे अवश्य समझाइये—

राएँ पुच्छिउ पुणु गिर धारउ । लोयालोय सरूव वियारउ ॥
कि लक्खणु धम्महु सिवयारउ । पुणुहु किं पुण्णु भणइ भडारउ ॥
पुण्णा० १।६। ५-६

तब गणधर ने उक्त धम एवं पुण्य का विस्तार के साथ वर्णन किया और उनके सिद्धान्तों के समर्थन में ही प्रसंगानुकूल मार्मिक कथाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

काव्यमूल्य—

'पुण्णासवकहा' धार्मिक आख्यानात्मक ग्रन्थ होने पर भी काव्यगुणों से युक्त है। इस ग्रन्थ में कवि ने यथास्थान अलंकारों की योजना की है और प्रसंगवश सन्दर्भों को सरस भी बनाया है। वस्तु-वर्णनों की योजना भी उपलब्ध होती है। अपभ्रंश-काव्यशैली के अनुसार ग्रन्थ का आरम्भ सज्जन-दुर्जन वर्णन से हुआ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। यों तो इस ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के समान ही सज्जन-दुर्जन का वर्णन अंकित है पर यहाँ कवि की भंगि-भणिति विशेष रूप से आकर्षक है। यथा :—

पक्खावरणु वट्टइ दुसमुकालु। परदोखगाहि खलयण करालु॥
ते दूसहिँ कव्व सहाव सुद्ध। कालाहि जेम विसु खिविवि दुद्ध॥
दुज्जण परगुण ण सहंति पाव। सायेवि जि पुण्णिमससि सिपयाव॥
जइविहु परिस ते लहवि कव्वु। तउ विणएँ पेरिउँ करमि कव्वु॥
सज्जण दुज्जणहँ णिसग्ग होंति। गुणदोस गाहि पयडिउ णमंति॥

पुण्णासव० १।६।१६-२६

अर्थात् कवि ने दुर्जन स्वभाव का वर्णन करते हुए उसे कृष्ण सर्प का उपमान दिया है। जिस प्रकार कृष्ण सर्प दुग्धपान करने पर भी विषवमन करता है उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति दूसरे के श्रेष्ठ गुणों का श्रवण-मनन करने पर भी निन्दा ही प्रस्तुत करता है। रसपूर्ण काव्य सहृदयों का हृदयावर्जक होता है पर वही दुर्जनों के के लिए निन्दनीय बन जाता है। दुर्जन स्वभावतः दुष्ट होते हैं और वे दूसरे के दोषों को ग्रहण करते हैं। किन्तु इस पञ्चम काल के प्रभाव से दुर्जनों में परदोष ग्रहण करने की क्षमता और बढ़ गई है। कवि ने भंगि-भणिति द्वारा संयोगजन्य संवेदना की ओर संकेत किया है। संवेदनशीलता की कमी रहने पर भी संयोगी तत्त्वों के कारण संवेदनशीलता में वृद्धि हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि रइधू ने काव्यशास्त्रीय आलोचना का मनन-चिन्तन कर उक्त भंगि-भणिति की नियोजना की है। संवेदनशीलता का सिद्धान्त वर्त्तमान-साहित्य में अधिक समादृत है और श्रेष्ठ काव्य का मानदण्ड अनुभूति की प्रामाणिकता मानी गई है तथा अनुभूति की यह प्रामाणिकता संवेदनशीलता पर निर्भर है।

कवि रइधू ने सज्जन-दुर्जनों के स्वभावगत वैशिष्ट्य का ही वर्णन नहीं किया है अपितु विभिन्न संयोगी प्रभावों के कारण उनकी परिवर्तित होने वाली चेतना का भी निरूपण किया है।

वस्तुवर्णन योजना—

वस्तुवर्णन योजना का चमत्कार कवि का चन्द्रवाडपट्टन के वर्णन में देखा जा सकता है। उत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा कवि ने उस नगरी का सरस वर्णन किया है। यथा—

चंदवाडपट्टणु विक्खायउ। तियसणयरु णं भुइ सुहदायउ॥
कालेंदी सरि चउदिसु रुद्धउ। णं भज्जइ पिउ पणय पमुद्धउ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धण-कण-कंचण सिरि संपुण्णउ। णं कय पुणु महाखरु धण्णउ ॥
सइ चित्तुव परणरहँ अगम्मो। सव्वहँ सुहयरु णं दयधम्मो ॥
सायरणुव परिहा सालंकिउ। परविवाय अरिविंद असंकिउ ॥
पंडुर पायारत्तय वित्तउ। णं णिव सवरजसेणु सुपवित्तउ ॥
धवलहरइँ धवलइँ णं सुरहर। दाणुण्णय कर जण रिद्धीसर ॥
वावाराणु रत्त जहिँ वणिवर। वसहिँ णिच्च णिव सम्माणेँ वर ॥
जहि जिणविंब समुज्जल पुज्जिया। अंडय सिहरिधयावलि खिज्जिया ॥
तोरण पउलि पयार दुरियहर। सोहण पउर विहार मणोहर ॥

पुण्णा० १।३।३-१२

अर्थात् कवि चन्द्रवाडनगर को इन्द्रपुरी के समान ज्ञानियों से सुशोभित एवं त्रिलोक में विख्यात बतलाता है। इस चन्द्रवाड के नगर के चारों ओर यमुना नदी प्रवाहित होती है, जिसके कारण यह नगरी ऐसी सुशोभित हो रही है मानों प्रियतमा पति के कण्ठ में अपनी कोमल भुजाओं को डालकर उसके साथ स्नेह में आबद्ध हो रही हो। धनधान्य से परिपूर्ण यह नगरी पुण्यात्माओं से युक्त होने के कारण सभी प्रकार से समृद्ध और मनोज्ञ है। यहाँ का शासन-प्रबन्ध इतना सबल और पक्षपात रहित है कि कोई भी परशासन उस पर आक्रमण नहीं कर सकता। जिस प्रकार मनुष्य का मन अगम्य होता है, उसी प्रकार यह नगरी भी अगम्य है। यहाँ सुखरूपी वृक्ष सदा पल्लवित और पुष्पित रहते हैं तथा धर्मात्मा व्यक्ति सदा आनन्दित रहते हुए निवास करते हैं।

कवि रइधू ने नगर की परिखा, ध्वजाओं और प्राकार का उत्प्रेक्षा द्वारा अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया है। कवि कहता है कि इस नगर को वेष्टित करने वाली परिखा समुद्र के समान गम्भीर और विस्तृत है। यही कारण है कि यहाँ पर विवादरूपी कमल विकसित नहीं होते और न प्रबल शत्रु ही आक्रमण कर सकते हैं।

नगर का प्राकार सुधा (चूने) से लिप्त रहने के कारण राजा के यश के समान अट्टहास कर रहा है और धवल उन्नत ध्वजाएँ उच्छ्रित होती हुई अमरपुरी का स्पर्श करना चाहती हैं। इन ध्वजाओं के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों धनिकजन दान देने के लिए अपना हाथ उन्नत किये हुए हैं।

इस नगर के निवासी वणिग्वर अपने व्यापार में संलग्न हैं। इनकी भद्रता, व्यापार-कुशलता एवं कार्यपटुता के कारण नगराधिपति नित्य ही उनका सम्मान करता है। नगर में जिन-चैत्यालय भी सुशोभित हैं। इनके उज्ज्वल शिखर गगन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चुम्बी हैं। तोरण ऊँचे हो-होकर प्राकार के अन्धकार को दूर कर रहे हैं तथा वहाँ के सुन्दर विहार सभी तरह से सुशोभित हो रहे हैं।

उक्त वर्णन में कवि रइधू ने अलंकारों की योजना के साथ-साथ अपनी कल्पना का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है। कवि ने भार्या द्वारा प्रिय के साथ किये जाने वाले प्रणय का सन्दर्भ उपस्थित कर समस्त वर्णन को सरस बनाया है। इसी प्रकार परिखा, प्राकार, अट्टालिका, चैत्यालय, ध्वजाएँ एवं विहार प्रभृति का कल्पनात्मक चित्रण कर मार्मिकता अंकित की गई है।

कवि ने युद्धवर्णन, सैन्य-संचालन एवं वीरों की दर्पोक्तियों के निरूपण में भी कुशलता प्राप्त की है। यों तो अपभ्रंश-वाक्य की शब्दावली ही ऐसी है, जिससे युद्धक्षेत्र का सांगोपांग दृश्य सहज ही उपस्थित हो जाता है। कवि रइधू ने लवकुश द्वारा अयोध्या पर किये गये आक्रमण का जीवन्त चित्रण किया है। लवकुश अपनी चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध कर अयोध्या नगरी को आवेष्टित कर लेते हैं और अपना दूत राम लक्ष्मण की सभा में भेजते हैं। दूत के प्रस्ताव को सुनकर लक्ष्मण क्रोधावेग के कारण लवकुश की भर्त्सना करते हैं। उनका कथन है कि रावण पर विजय प्राप्त करने वाले राम की ओर वक्रदृष्टि से देखने में किसकी सामर्थ्य है? जब सभी विद्याधर और भूमिगोचरी राम को प्रणाम करते हैं तो इन दो बालकों की तो गणना ही क्या है? कवि कहता है—

एम कहेवि तूरु देवाविउ। ते चउरंगु सेणु मेलाविउ॥
हय-गय-वाहण अंतु ण दीसइ। जण वहिरइँ स जयई भासइ॥
गयणंगणु णहजाणहिं छण्णउ। णं मज्जाए चत्तु महण्णउ॥
मग्गामग्गु ण किंपि मुणिज्जइ। रयभर छण्णेँ णालोइज्जइ॥
गच्छंता वइरिया साहंता। कय दिणेहि उज्झाउर पत्ता॥
चाउदिसु रुँधिवि आमेल्लिया। पुरयण अच्छेरय मण डुल्लिया॥
दूउ विसज्जिउ सीया पुत्तहिँ। गउ सो रामु सलक्खणु जेत्तहिँ॥
पणवेप्पिणु तेँ ताहँ पउत्तउ। णिसुणहि रामयंद विण्णत्तउ॥
वज्जसंघ ससउरि संजाया। लवणंकुस णामें विक्खाया॥
ते पुण चक्कवट्टि अवयारा महि। साहंत तं जि अणिवारा॥
कोसु असेसु ताहँ अप्पेप्पिणु। सुहि णिवहु इह किरवेप्पिणु॥
ता वियसिय महुँ लक्खणु जंपइँ। खल जीवंतु जाहि तुहु संपइं॥
लवणँकुसहँ सत्ति पेच्छिमि रणि। कालें चोइय ते आया खणि॥

पुण्णासव० ११-८-१-१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार महाकवि रइधू ने अपने वर्णन सन्दर्भों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्ति अलंकारों की योजना की है। यहाँ हम एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत कर कवि की कल्पना का चमत्कार दिखाने की चेष्टा करेंगे। कवि चन्द्रमा के निरन्तर भ्रमणशील रहने का कारण बतलाते हुए लिखता है—

ससिपुणु अण्ण पिया कयसंगु। भमेइ णहम्मि कलंकिय अंगु॥

पुण्णासव० १-१३-८

रस-योजना

धार्मिक ग्रन्थ होने पर भी इस ग्रन्थ में शृङ्गार, वीर और शान्त रस का सुन्दर परिपाक मिलता है। वेश्याओं के वर्णन-सन्दर्भ में कवि ने शृंगारिक हावभावों और चेष्टाओं का सजीव वर्णन किया है। सम्भोग शृंङ्गार के विभाव, अनुभाव भी उपस्थित किये गये हैं। हम उद्धरण प्रस्तुत कर निबन्ध का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहते। पर इतना सत्य है कि कवि ने संयोग के पूर्व उत्पन्न होने वाले मानसिक द्वन्द्व का स्पष्ट अंकन किया है। मनोज्ञ नायिका के दर्शन के पश्चात् नायक के मन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न मनोभावनाएँ मनोविश्लेषण की दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण हैं उतनी ही सरसता की दृष्टि से भी।

शृङ्गार का पोषक वीर रस है! प्रस्तुत 'पुण्णासवकहा' में वीर रस के सन्दर्भ दो-तीन स्थलों पर आये हैं। लव-कुश और राम-लक्ष्मण के युद्ध में कवि ने दर्पोक्तियों के साथ वीर रस का नियोजन किया है। इस सन्दर्भ के वीर रस की तुलना हम पृथ्वीराजरासो के संयोगिता-स्वयंवर के सन्दर्भ-से कर सकते हैं। दोनों ही सन्दर्भों में वीरों की भावनाओं का चित्रण समान रूप में हुआ है। लव और कुश की वीरता और उनकी रणनीति वीरगाथा कालीन रणनीति के समकक्ष है। जब लव राम एवं कुश लक्ष्मण को युद्धभूमि में आवेष्टित कर लेते हैं, दोनों ओर के ही पराक्रमी वीर योद्धा अपनी-अपनी वीरता का प्रदर्शन करते हैं पर लव और कुश की वीरता के समक्ष राम-लक्ष्मण को हतप्रभ हो जाना पड़ता है। परिस्थिति की विकटता को समझ कर सीता उपस्थित होती है और वीरता का दृश्य शान्ति में परिणत हो जाता है। नाटकीय पट-परिवर्तन के साथ वातावरण भी एक नया रूप ग्रहण कर लेता है और अग्नि-परीक्षा के बाद सीता चिरन्तन-शान्ति के हेतु वन की ओर चली जाती है।

इस प्रकार कवि रइधू ने वीर रस और शान्त रसों की योजना एक ही सन्दर्भ में नियोजित कर काव्य-चमत्कार का सृजन किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषा

महाकवि रइधू के इस ग्रन्थ का काव्य एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जितना मूल्य है उससे कहीं अधिक भाषा की दृष्टि से है। इस ग्रन्थ में १४-१५ वीं सदी के मध्य में प्रयुक्त होने वाली जनपदीय भाषाओं के शब्दरूप, प्रत्यय, ध्वनितत्त्व एवं क्रिया सर्वनाम उपलब्ध होते हैं। पश्चिमी जनपदीय भाषाओं की प्रायः समस्त प्रवृत्तियाँ इस ग्रन्थ में देखी जा सकती हैं।

पूर्वी भाषाओं में मैथिली, मगही और भोजपुरी की कतिपय प्रवृत्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। यों तो रइधू ने परिनिष्ठित अपभ्रंश के साथ तत्कालीन जनपदीय भाषाओं का प्रभाव भी उनके इस ग्रन्थ पर पड़ा है। हम यहाँ सर्वप्रथम व्रजभाषा की कुछ प्रवृत्तियों का निर्देश करते हैं। महाकवि रइधू ने एक वर्णन-प्रसङ्ग में लिखा है—

तातें पणपय जुउ मंतीवरु। सिक्खाविउ असिधेणु खिसियकरु॥
सिक्कारहिउ चोरु गय संको। वड्डु अपुण्णु भग्गु कय संको॥
असि धेणुए लउ छेयइ जा महि। वीसरियउ मंतक्खउ तामहि॥
……णिरवसेसु वड्डयहु वित्तंतो। तुहु महु गुरु तिजयम्मि महंतो॥
जिह तुह णामें सिद्धाविज्जउ। तिह परलोउ वि धुउ खिरवज्जउ॥

पुण्णासव० २।२१।३-५ एवं १२-१३

उपर्युक्त पंक्तियों में 'तातें' व्रजभाषा का सुप्रसिद्ध शब्द है, जो कि संस्कृत के 'तस्मात् कारणात्' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'सिक्खाविउ' शब्द भी यत्किञ्चित् परिवर्त्तन से 'सिखाविउ' के रूप में व्रजभाषा में प्रयुक्त है 'वड्डु' का प्रयोग प्राचीन व्रजभाषा में हुआ है। सर्वनाम के रूप में 'तुहु' 'महु' सीधे रूप में व्रजभाषा में प्रयुक्त है। 'जिह' व्रजभाषा में आज भी प्रचलित है। इस 'जिह' का अर्थ 'येन कारणात्' गृहीत है। रइधू ने 'तुह' 'तुज्झ' 'कालु' 'पुणु' जैसे रूप बहुलता से प्रयुक्त किये हैं। ये सभी रूप व्रजभाषा में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार जिहाँ (३।११) ताइं (३।१।२२) गमन्तं (३।१।२४) सुढुकउ (३।१४।७) हउं (३। १४।१) तउ (३।१४ घत्ता) होउ, जाउ (१।१५।५) जैसे अनेक रूप और शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। ये सभी रूप आज भी व्रजभाषा में प्रचलित हैं।

कोशली या अवधी के अध्ययन के लिए भी इस ग्रन्थ का महत्त्व है, क्योंकि शब्दों के साथ परसर्ग एवं प्रत्यय अवधी के सन्निकट हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वी भाषाओं में मैथिली एवं भोजपुरी की प्रधानता है। भोजपुरी का 'बैठव' रूप प्रसिद्ध है। 'पुण्णासवकहा' में यह शब्द 'वइठउ' (१।१५।१) के रूप में आया है। इसी प्रकार 'तुरन्व' 'पोट्टल' (पोटरी) 'अंगु' 'संगु' जैसे रूप भी प्रयुक्त हैं।

भोजपुरी और मैथिली की प्रधान प्रवृत्ति लकार के स्थान पर रेफ को है। कवि रइधू ने इस ग्रन्थ में सर्वत्र लकार का ही प्रयोग किया है। यदि इस लकार को रेफ़ में परिवर्त्तित कर दिया जाय तो अनेक शब्द और रूप भोजपुरी और मैथिली के हो जाएँगे।

आधुनिक हिन्दी भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी 'पुण्णासवकहा' का महत्त्व है। इसमें कोढ़ (१।१३।७) देहली (१।१४।७) चुल्लू (१।१४।७) तुरन्व (२।४।२०) बूढ (४।६।११) थिरता (१०।१) इत्यादि शब्द मिलते हैं जो कि ठेठ हिन्दी के हैं।

कवि ने भाषा को काव्यात्मक सरसता प्रदान करने के लिए सूक्तियों का भी प्रयोग किया है। ग्रन्थ में वे प्रसंगानुकूल सर्वत्र व्याप्त हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

कम्मेँ उच्चु णिच्चु विरइज्जइँ।

अर्थात् कर्म से ही ऊँच अथवा नीच गति मिलती है। १।१५।२.

ईसु धणड्ढु सयल अग्गेसरु।

यत्किंश्चित् धनवान् भी सभी लोगों के बीच अग्रेसर माना जाता है १।१५।३.

णीचु सु होइ कय कम्मेँ दुहहरु।

नीच वही है जो दुष्कर्म करता है। १।१५।३.

कुलतिय विणु घर ठिदि अणिट्ठु।

कुलीन स्त्री के बिना घर की स्थिति अनिष्टकर हो जाती है। ८।१।६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा के अप्रकाशित ग्रन्थों में से एक लघु ग्रन्थ—

कनककीर्ति रचित कषाय-जय-भावना

मानव अनादिकाल से इस संसार में भटकता आया है और भटकता रहेगा कषायों के कारण। कषाय अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को बिगाड़कर उसमें अशुद्धता उत्पन्न कर देती हैं। कषायों के कारण ही मानव पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति को भी तिलाञ्जलि दे देता है। मुनि कनककीर्ति ने अपने इस लघु ग्रन्थ 'कषाय जयभावना' में कषाय के कारण मानव में आये हुए वाह्य विकारों का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत लघु रचना बड़ी ही सरस, सरल एवं मार्मिक है। इसकी मूल प्रति कन्नड लिपि में ताडपत्र पर अंकित है। बड़े ही परिश्रम के साथ उसकी देवनागरी में प्रतिलिपि कर सावधानीपूर्वक सम्पादन एवं अनुवाद कर सर्वप्रथम यहाँ वह प्रकाशित की जा रही है।

कषाय-जयभावना

येन कषाय च तुष्कं ध्वस्तं संसार दुःखतरुबीजम्
प्रणिपत्य तं जिनेन्द्रं कषाय जय भावनां वक्ष्ये ॥१॥

अर्थ—जिसने संसार के दुःखरूपी वृक्ष के बीजस्वरूप (क्रोध, मान, माया लोभ) चार कषायों को नष्ट कर दिया है उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करके (मैं कनककीर्ति) कषाय-जयभावना को कहूँगा।

क्रोध-वर्णन

कोपी नाशयति क्षणेन विपुलां सत्सञ्चितां संपदम्।
कोपी च त्यजति द्रुतं प्रणयिनीं भार्यां स्वकीयामपि।
(१) कोपी पुण्यजनोचितान् सुखकरान् ………
प्रायः कोपवशस्त्यजेत्तृणमिव स्वं जीवितव्यं जनः ॥२॥

अर्थ—क्रोधी व्यक्ति क्रोध के वश में होकर चिरकाल से संचित विपुल धन-राशि को एक ही क्षण में नष्ट कर देता है। अपनी प्राणप्रिय पत्नी को भी त्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देता है। क्रोधी व्यक्ति क्रोध के वशीभूत होकर पुण्यवान् व्यक्तियों के योग्य, सुख-दायक तथा श्रेष्ठ यश प्रदान कराने वाले कार्यों एवं अपने जीवन को भी तृण की तरह त्याग देता है।

भ्रूभङ्गभङ्गुरितभीमललाटपट्टं
रक्तं विरूपमपि कम्पन सर्वगात्रम्।
प्रस्खलद्वचनमुद्गतलोलदृष्टिं
कोपः करोति मदिरेव जनं विचेष्टम् ॥३॥

अर्थ—क्रोध मनुष्य को शराब की तरह निश्चेष्ट बना देता है। टेढ़ी भौंहें, भयानक ललाट लाल एवं कुरूप कम्पित शरीर चञ्चलदृष्टि, वचनों की अस्थिरता आदि।

नो संवृणोति परिधानमपि स्वकीयं।
भाण्डानि चूर्णयति हन्ति शिशून् प्रदुष्टः।
स्वात्म्यं परं परिभवत्यपि मुक्तकेशः
कोपी पिशाचसदृशं स्वकमातनोति ॥४॥

अर्थ— क्रोधी अपने शरीर के वस्त्रों को भी नहीं सम्हाल पाता है। दुष्टता-पूर्वक बर्तनों को तोड़ता है, बच्चों को मारता है। केशों को खोलकर अपने तथा दूसरों का अपमान करता है। क्रोधी स्वयंको पिशाच के समान बना लेता है।

कोपेन कश्चिदपरं ननु हन्तुकाम-
स्तप्तायसं स परिगृह्य करेण मूढः।
स्वंनिर्दहत्यपरमत्र विकल्पनीयं
किं वा विडम्बनमसौ न करोति कोपः ॥५॥

अर्थ—क्रोध से किसी दूसरे को मारने का इच्छुक होकर, वह मूर्ख हाथ में तपाये हुए लोहे को लेकर स्वयं को जलाता है या अन्य को यहाँ विचारणीय है। यह क्रोध कौन-कौन सी विडम्बनाएँ नहीं करता है।

न स्वामिनं न नृपतिं न गुरुं न मित्रं
नो मातरं न भगिनीं न च बन्धुलोकम्।
नो मन्यते प्रणयिनीमपि हन्तुकामो
ह्यात्मं च शत्रुसदृशं विदधाति कोपी ॥६॥

अर्थ—क्रोधी व्यक्ति मारने का इच्छुक होकर, न स्वामी को, न राजा को, न गुरु को, न मित्र को, न माता को, न बहिन को, न भाइयों को और अपने प्रेमी लोगों को भी नहीं मानता है। स्वयं शत्रु के समान बना लेता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्तेन चिन्तयति यद्यदचिन्तनीयं
वक्त्रेण जल्पति च यद्यदभाषणीयम्
तद्वा करोति ननु यन्न करोति वैरी
मन्ये सदा भवति दुर्जनवत्प्रकोपः ॥७॥

अर्थ—क्रोधी व्यक्ति अचिन्तनीय वस्तु के सम्बन्ध में मन में चिन्ता करता है। अभाषणीय वचन मुख से बोलता है। शत्रु भी जिस कार्य को नहीं करता वह कार्य वह करता है। क्रोधी व्यक्ति सदा दुष्ट के समान होता है।

दानं न पूजां न तपो न शीलं
स्वाध्याय मौनं व्रतधारणं च।
कोपाग्निसंतापितमानसस्य
परे गुणाः केऽपि न सन्ति तस्य ॥८॥

अर्थ—क्रोध की अग्नि से संतापित हृदय वाला न दान देता है, न पूजा करता है, न सदाचार का पालन करता है। स्वाध्याय एवं व्रत धारण करने के प्रति मौन रहता है। इनके अतिरिक्त उसके और कोई भी गुण नहीं होते हैं।

कोपी न शेते, न सुखेन भुङ्क्ते परस्य दुःखं सततं समिच्छन्
प्रजल्पितै र्वा बहुभिः किमत्र-कोपो नृणां मूलमनर्थ राशेः ॥६॥

अर्थ—क्रोधी व्यक्ति निरन्तर दूसरों को दुःखी चाहता हुआ न सुख से सोता है और न सुख से खाता है। अधिक बकने से क्या लाभ ? क्रोध मनुष्यों के लिए अनर्थों की जड़ है।

विमुक्तिकान्तासुखसाधकं यत् - संमार्जितं चारुचरित्रमुद्घम्
कोपाग्निना तत्परिदह्य सर्वं द्वीपायनः संसृतिमध्युवास ॥१०॥

अर्थ—मोक्षरूपी लक्ष्मी के सुख को देने वाले सुन्दर पवित्र चरित्र को क्रोधरूपी अग्नि में जलाकर द्वीपायन मुनि संसार में ही रहे।

मान का फल

जातिर्मे विपुला कुलं सुविपुलं रूपं जगत्सुन्दरं
बुद्धिस्तीक्ष्णतरा व्रतं समधिकं लोकातिगं वैभवम्।
विज्ञानं जन - चित्रकारि सुतपश्चेतश्चमत्कारि मे
स्वस्याधः स्थितमित्ययं जगदिदं मानी सदा मन्यते ॥११॥

अर्थ—मानी व्यक्ति सदा ऐसा मानता है कि मेरी जाति बड़ी है, कुल बड़ा है, संसार में सबसे अधिक सुन्दर रूप है, बुद्धि सबसे अधिक तीव्र है, मैं सर्वाधिक व्रती हूँ। संसार से भी अधिक वैभव है, सभी को आश्चर्य में डालने वाला ज्ञान है, चित्त को आश्चर्य में डालने वाली तपस्या करता हूँ। यह सारा संसार मुझ से नीचा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवभयहरं शान्तं धीरं जिनं न विलोकते ।
न खलु सुखदं पूतं धर्मं कुधी रोगे विगाहते ।।
हितमपि गुरोः सत्यं वाक्यं नरो न समीहते ।
कथमपि निजं मानं मानी न जातु विमुञ्चति ।।१२।।

अर्थ—मानी व्यक्ति, संसार के भय का विनाश करने वाले शान्त, धीर, जिनेन्द्र के दर्शन नहीं करता है। कुबुद्धि रूपी रोग में फँसा हुआ, सुख देनेवाले पवित्र धर्म को धारण नहीं करता है। गुरु के हितकारी तथा सत्य वचनों को नहीं चाहता है किसी भी तरह मानी व्यक्ति अपने मान को नहीं छोड़ता है।

न तदरिरतिरुष्टः केसरी नो हुताशो ।
न च जनयति दुःखं भक्षितं कालकूटम् ।
विषमपि विषधरोऽहिस्तन्नये देहिनोस्य ।
जनयति बहुदुःखं मान एवातिदीर्घम् ।।१३।।

अर्थ—जैसे शत्रु से अत्यधिक रुष्ट सिंह आग को नहीं देखता है। खाये गये विष में भी दुःख का अनुभव नहीं करता है प्राणियों को सर्प के विष की तरह यह मान अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है।

न भोजयत्यपरमात्मगृहे कदाचिन्
नैव स्वयं परगृहे भणितोऽपि भुङ्क्ते ।
मानी मदज्वरसमाकुलचित्तवृत्तिः ।
नो वक्ति भाषयति कंचन मोहितात्मा ।।१४।।

अर्थ—मानी व्यक्ति कभी भी दूसरों को अपने घर पर नहीं खिलाता है तथा कहने पर भी दूसरे के घर पर नहीं खाता है। मदज्वर से पीड़ित चित्तवाला मानी व्यक्ति मोहित होकर किसी से कुछ भी नहीं बोलता है।

विद्यां न कीर्तियशसी न तपो न मैत्रीं
नो संपदं न विभुतां न च मन्त्रतन्त्रम् ।
लोकद्वयेऽपि सुखमन्यदपि प्रशस्तं
स्वं वाञ्छितं हि लभते न कदापि मानी ।।१५।।

अर्थ—मानी व्यक्ति न विद्या को, न यश को, न तप और न मित्रता को, न संपत्ति न प्रभुता, तथा न तन्त्रमंत्र को, दोनों लोकों में और दूसरे भी सुख को कभी भी प्राप्त नहीं करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुरन्त-संसार-समुद्र-तारकं　　प्रपन्नसौख्यामलसिद्धिसाधकं
सद्हेतुकं यद्यपि भव्यते बुधैः श्रणोति मानी न तथापि सद्वचः ॥१६॥

अर्थ—सज्जनों के श्रेष्ठवचन यद्यपि कठिन संसाररूपी समुद्र से पार करने वाले, पवित्र सुख एवं सिद्धि प्रदान करने वाले होते हैं। ऐसा विद्वानों का कथन है फिर भी मानी व्यक्ति सज्जनों के वचनों को नहीं सुनता है।

स्वबन्धुभिः सद्वचनैरुदारैः सभाजनैर्वा बहुपण्डितैश्च
विबोध्यमानोऽपि सहस्रशोऽज्ञस्तथापि मानं न जहाति मानी ॥१७॥

अर्थ—अपने बन्धुओं, सभा के सज्जनों एवं अनेक विद्वानों के द्वारा श्रेष्ठ तथा उदार वचनों से हजारों बार समझाया जाने पर भी मूर्ख मानी व्यक्ति अपने मान को नहीं छोड़ता है।

न मानिनः केऽपि भवन्ति दासाः न मित्रतां याति हि कश्चिदेव।
निजोऽपि शत्रुत्वमुपैति तस्य किं वाथ मानो न करोति नृणाम् ॥१८॥

अर्थ—कोई भी मानी व्यक्ति की दासता स्वीकार नहीं करता, न कोई मित्रता ही करता है। उसके अपने लोग भी शत्रु हो जाते हैं। मान मनुष्य को क्या नहीं करता है?

सर्वदा कलित तातवचोभ्यां न्यायधर्मसमभावरतिभ्याम्।
यत्कृतं भरतबाहुबलिभ्यांमानदोष इति सोऽत्रजिनोक्तम् ॥१९॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने बताया है कि मानदोष के ही कारण हमेशा पिता के वचनों को पालने वाले, न्यायधर्म एवं समानता के भाव में प्रीति करने वाले भरत और बाहुबलि ने जो किया; वह सर्वविदित है।

माया-वर्णन

अभ्युत्थानविधिं करोति सहसा बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणो
　　गाढं श्लिष्यति भाषतेऽति मधुरं दत्ते निजार्धासनम्।
कृत्यं तत्पुनरन्यथा च कुरुते मायासमेतः पुमान्
　　यस्तं साधु विगर्हितं खलजनं कः सेवते शुद्धधीः ॥२०॥

अर्थ—मायाचारी अचानक अश्रुपूर्ण नेत्र से (हर्ष व्यक्त करता हुआ) सत्कार करता है। गाढ़ आलिंगन करता है, मधुर वचन बोलता है, अपना आधा आसन देता है परन्तु कार्य विपरीत ही करता है ऐसे साधुओं द्वारा निन्दित दुष्ट व्यक्ति की कौन श्रेष्ठ बुद्धिवाला सेवा करता है अर्थात् कोई नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याघ्री नो कुपिता न चापि शरभी नैवान्तकी राक्षसी
शस्त्रेणापि तथा न पावकशिखा नो शाकिनी डाकिनी।
नो वज्राशनिरुत्तमांगपतिता सर्वस्वहानिस्तथा
दुःखं भूरि यथा करोति रचिता माया नृणां संसृतौ ॥२१॥

अर्थ—संसार में माया मनुष्यों को जितना अधिक दुःख देती है तथा हानि पहुँचाती है वैसी न क्रोधित व्याघ्री से न शरभी से, न राक्षसी से, न हथियार से, न अग्नि की शिखा से, न शाकिनी डाकिनी से तथा न मस्तक पर गिरे हुए व्रज से हानि होती है।

त्यक्ताशेषपरिग्रहा अपि सदा विज्ञातशास्त्रा अपि।
शश्वद्द्वादशभेदतत्त्ववदतपसा संपीडितांगा अपि
केचिद्भैरव गौरवाद्विहितया दुर्लक्षया मायया
मत्वा यान्ति कुदेव योनिमवशा माया न किं दुःखदा ॥२२॥

अर्थ—समस्त परिग्रहों का त्यागी, सभी शास्त्रों का ज्ञाता हमेशा बारह प्रकार के तप से शरीर को पीडित करने वाला अत्यन्त गौरव को प्राप्त करके भी दुर्लक्ष्य माया के कारण कुदेव योनि में जाता है। माया मानव को कौन सा दुःख नहीं देती है ? अर्थात् माया संसार में मानव को अत्यन्त दुःखदायी है।

छिद्रावलोकनपरं सततं परेषां जिह्वाद्वयेन भयदानविधानदक्षम्
अन्तर्विपाक हृदयं कुटिलस्वभावं माया करोति हि नरं सभुजंगचेष्टम् ॥२३॥

अर्थ—माया व्यक्ति को सदा दूसरों के दोषों को देखने में चतुर दो जिह्वा अर्थात् चुगल खोरी की आदत के द्वारा दूसरों को भय देने वाला, कुटिल स्वभाव के कारण हृदय में बदले की भावना से पूर्ण, तथा सर्पों की चेष्टा वाला बनाती हैं।

धीरोऽपि चारुचरितोऽपि विचक्षणोऽपि
शीलालयोऽपि सततं विनयान्वितोऽपि।
बुद्धोऽपि वृद्धधनवानपि धीधनोऽपि
मायासखः सदसि याति लघुत्वमेव ॥२४॥

अर्थ—धीर, सच्चरित्र, बुद्धिमान, सुशील, हमेशा नम्रतागुण से विभूषित, सजग, वृद्ध धनवान और पूर्ण विद्वान भी व्यक्ति अगर माया की दोस्ती करता है तो सभा में लघुता को प्राप्त करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आराध्यमानस्यच देववृन्दं प्रपूज्यमानस्य हि साधुवृन्दम्
निषेव्यमानस्य तु राजलोकं न मायिनः सिद्ध्यति कार्यजातम् ॥२५॥

अर्थ--देवताओं की पूजा करने वाले, साधुओं की सेवा करने वाले तथा राजा की सेवा करने पर भी मायाचारी का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है।

न तस्य माता न पिता न मित्रं न बान्धवा न स्वजनाः न पुत्राः
चाटूनि कुर्वीत्यतो ऽपि नित्य न मायया विश्वसिति हि कोऽपि ॥२६॥

अर्थ - न उसकी माता है, न पिता, न मित्र, न बन्धु, न अपने सम्बन्धी, न पुत्र, मायापूर्णचापलूसी प्रदर्शित करने वाले पर कोई भी विश्वास नहीं करता है।

न मायया धर्मयशोऽर्थकामा न चेह पूजा न परत्र सिद्धिः
न प्राप्यते किञ्चिदपीष्टमन्यदतोहि माया सुखदा न कस्यचित् ॥२७॥

अर्थ—माया से धर्म, यश, अर्थ, काम और इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है न परलोक में सिद्धि ही होती है। अन्य भी कोई अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती है। अतः माया किसी को भी सुखदायी नहीं है।

राजा धर्मरतः सतामभिमतः श्रीमान् विशुद्धाशयो
न्यायान्यायविचारणैकचतुरो निःशेषशास्त्रार्थवित्।
व्यक्तं सानृत भाषया किल गतः पातालमूलं वसुः
संसारे ऽस्ति किमत्र दुःखमतुलं यन्नाप्यते मायया ॥२८॥

अर्थ—धर्म में लीन, सज्जनों से सम्मानित, सम्पत्तिशाली, शुद्ध विचारवान्, न्याय-अन्याय का विचार करने में चतुर, समस्त शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला, भी राजा वसु असत्यभाषण से नरक गया अतः संसार में ऐसा कौन-सा दुःख है जो माया से प्राप्त नहीं होता है।

लोभ

शृंगाग्रं सहसाऽधिरोहति गिरेर्भूमण्डलं भ्राम्यति।
दोर्भ्यां सिन्धुजलं तितीर्षति चिरं देशान्तरं लङ्घते।
भूरन्ध्रं विशति प्रसर्पतिदिशः सर्वाश्च वित्ताशया
तत् किं साहसमस्ति यन्न कुरुते लोभाकुलोऽयं जनः॥

अर्थ—लोभी व्यक्ति लोभ के कारण अचानक ही पर्वत की चोटी पर चढ़ जाता है। पृथ्वी मण्डल पर घूमता है। भुजाओं से समुद्र के जल में तैरना चाहता है तथा देशान्तरों को पार करता है। पृथ्वी के नीचे प्रवेश करता है। धन के लिए दिशाओं में भ्रमण करता है और कौन-सा साहस है जो लोभी व्यक्ति नहीं करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वित्तार्थी नृपसेवया विषहते कष्टं निशा जागरं
उष्णं वाथ न मन्यते न शिशिरंतोयं न मेघागमे
आदेशं प्रतिपद्य तस्य विषमं साप्नोति संप्रेक्षणी
लोभेनानुरतेन चेतसि सदा किं किं न कुर्याज्जिन : ॥३०॥

अर्थ—धन का इच्छुक व्यक्ति राजा की सेवा से रात्रि में जागकर कष्ट सहन करता है। गर्मी, ठंड, जल या बरसात का ध्यान नहीं करता है। उसका आदेश पाकर अपनी दृष्टि को ही बदल लेता है। लोभासक्त व्यक्ति क्या-क्या नहीं करता है।

शेते नित्यं त्रुटितशटिते मञ्चके भग्नपादे।
भुङ्क्ते स्तोकं तदपि कुथितं जीर्णमन्नं क्षुधार्तः।
धत्ते शीर्णं मलमलिनितं वस्त्रखण्डं च कस्या
मेवं लोभी द्रविणमधिकं प्रत्यहं संचिनोति ॥३१॥

अर्थ—नित्य टूटे हुए पादवाली टूटी खाट पर सोता है। भूख से पीड़ित होकर सड़ा-गला अन्न खाता है। शरीर पर फटा हुआ मैला वस्त्र धारण करता है। इस प्रकार लोभी प्रतिदिन अत्यधिक धन का संचय करता है।

जिनालयमनुत्तरं ननु न कारयत्युज्ज्वलं
जिनाधिपतिपूजनं न च करोति सत्संगमम्।
ददाति च तपस्विनां प्रतिदिनं न दानं महद्
हिरण्यमपि वर्धयन् मरणमेति लोभी जनः ॥३२॥

अर्थ—श्रेष्ठ एवं उज्ज्वल जिनमन्दिर नहीं बनवाता है। जिनेन्द्र देव का पूजन नहीं करता है। सज्जनों की संगति नहीं करता। प्रतिदिन साधुओं को दान नहीं देता है। इस प्रकार स्वर्ण को बढ़ाता हुआ लोभी मृत्यु को प्राप्त करता है।

भारं समुद्वहति हीनबलोऽपि नित्यं
मार्गेण गच्छति बहून्यपि योजनानि।
क्षुद्वेदनां विसहते सहते च तृष्णां
लोभाकुलः किमथवा कुरुते न कष्टम् ॥३३॥

अर्थ—कम बलशाली होने पर भी नित्य बोझ ढोता है। कई योजनों तक पैदल यात्रा करता है। भूख और प्यास की वेदना को सहन करता है इस तरह लोभी व्यक्ति क्या कष्ट नहीं सहता है अर्थात् सभी प्रकार के कष्टों को सहन करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखति सिञ्चति गायति लोभवान्
कृषति सिञ्चति पाति लुनाति च।
खनति धावति नौति धनाशया
तदपि नो भवतीह धनी जनः ॥३४॥

अर्थ—लोभी व्यक्ति लिखता है, गाता है। जोतता है सींचता है, रक्षा करता है और काटता है। धनप्राप्ति की इच्छा से खोदता है, दौड़ता है। तो भी इस संसार में धनी नहीं हो पाता है।

लोभेन रात्रौ न सुखेन शेते, लोभेन लोकः समये न भुङ्क्ते
लोभेन काले न करोति धर्मं लोभेन पात्रे न ददाति दानम् ॥३५॥

अर्थ—लोभ के कारण रात्रि में सुख से सोता नहीं है। लोग लोभ के कारण समय पर खाते नहीं हैं। लोभ के कारण समय पर धर्म नहीं करते हैं। लोभ के कारण योग्य पात्र को दान नहीं देते हैं।

दुःखं न जानाति न वेत्ति सौख्यं हिताहितं लक्ष्यते न मूढः।
कालं बहुं यातमिहार्थलोलः क्षणेन तुल्यं मनुते हि लोभी ॥३६॥

अर्थ—मूर्ख लोभी व्यक्ति न दुःख जानता है न सुख, हित-अहित कुछ भी नहीं समझता है। लोभी व्यक्ति को बीता हुआ समय एक क्षण-सा मालूम होता है।

पीनाकस्य कथां निशम्य सुधियो ज्ञात्वा मृतिंचामरीं
दृष्टं तं कलहस्तकस्य निपुणं संचिन्त्य चित्ते पुनः
भव्याः श्री जिनशासने कृतधियो व्यावर्त्य चित्ते स्पृहां
संसारोद्भवदुःखदानचतुरं लोभं त्रिधा मुञ्चतु ॥३७॥

अर्थ—बुद्धिमान लोग पीनाक की कथा को सुनकर दैवी स्वरूप को जानकर, कलहस्त की निपुणता देख फिर चित्त में विचार करके, जिन शासन में स्थिर बुद्धिवाले भव्य को मन, वचन, काय से लोभ का परित्याग कर देना चाहिए।

इमे कषायाः सुखसिद्धिबाधकाः
इमे कषायाः भवबृद्धिसाधकाः
इमे कषायाः नरकादिदुःखदा
इमे कषायाः बहुकल्मषप्रदाः ॥३८॥

अर्थ—ये कषायें सुखप्राप्ति में बाधक हैं। संसार सागर में भटकाने वाली हैं। नरकादि के दुःख देने वाली एवं अनेक प्रकार से पापी बनाने वाली हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायवान्नो लभते सुदर्शनं
कषायवान् ज्ञानमवैति नोज्ज्वलम् ।
कषायवाञ्चारुचरित्रं मुष्णाति
कषायवान मुञ्चति शोभनं तपः ॥३६॥

अर्थ—कषायवान मनुष्य सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करता है। सम्यग्ज्ञान को प्राप्त नहीं करता है। सम्यग्चारित्र का विनाश करता है तथा श्रेष्ठ तपस्या का भी त्याग कर देता है।

यतः कषायैरिह जन्मवासे समप्यते दुःखमनन्तपारम्
हिताहितं प्राप्त विचार दक्षैरतः कषायाः खलु वर्जनीयाः ॥४०॥

अर्थ—कषायों के कारण मनुष्य इसी संसार में अनन्त बार जन्म लेता है, अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है अतः हित-अहित का विचार करने वाले चतुर व्यक्तियों को कषायों को छोड़ देना चाहिए।

इति कनककीर्तिमुनिना कषायजयभावना प्रयत्नेन ।
भव्यजनचित्तशुद्धयै विनयेन समासतो रचिता ॥४१॥

अर्थ—इस प्रकार कनक कीर्ति मुनि ने बड़े ही प्रयत्न से भव्य जीवों की चित्त-शुद्धि के लिए संक्षेप में कषाय जयभावना ग्रन्थ की रचना की है।

॥इति कषायजयभावना चत्त्वरिंशत्समाप्तः ॥

अनुवादक—नेमिचन्द्र जैन एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी) साहित्याचार्य, जैनबालाविश्राम, आरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत भाषा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ–कोष्टक चिंतामणि

अगरचन्द नाहटा

भारतीय भाषाओं में संस्कृत के बाद प्राकृत ही सर्वाधिक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण भाषा है। संस्कृत में जिस प्रकार जीवनोपयोगी प्रत्येक विषय का साहित्य उपलब्ध है उसी तरह प्राकृत भाषा में भी सभी विषयों के साहित्य का निर्माण होता रहा है। भारत की दो प्रधान संस्कृतियों में से वैदिक संस्कृतिवालों ने संस्कृत में प्रधान रूप से साहित्य निर्माण किया। इसी तरह श्रमण संस्कृति वालों ने जन-साधारण की—प्राकृत भाषा में निरन्तर साहित्य निर्माण करते रहकर प्राकृत साहित्य को विशाल एवं समृद्ध बनाया। श्रमण संस्कृति में भी जैनों की इस विषय में सबसे अधिक देन है क्योंकि बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में अधिक हो गया और उन-उन देशों की भाषाओं में बौद्ध साहित्य का अनुवाद एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना अधिक होने लगी। इधर संस्कृत के बढ़ते हुए प्रभाव ने भी बौद्धों को अधिक प्रभावित किया। फलतः प्राचीन त्रिपिटक आदि ग्रन्थों के बाद बौद्ध साहित्य, संस्कृत, तिब्बति, जापानी, चीनी आदि भाषाओं में अधिक प्राप्त है जबकि जैनों ने संस्कृत एवं लोक भाषाओं में साहित्य निर्माण करने के साथ-साथ प्राकृत भाषा में भी विविध विषयक साहित्य निर्माण की परम्परा चालू रखी। इससे गत २५०० वर्षों में इनके रचित प्राकृत रचनाओं की संख्या का परिमाण बहुत विशाल है। साथ ही उनकी रचित प्राकृत रचनाएँ जीवनोपयोगी प्रत्येक विषय को हैं एवं प्रत्येक शताब्दी में वह सृजन परम्परा अनवरत रूप से चालू रही है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज भी कई जैनाचार्य एवं मुनि प्राकृत साहित्य के निर्माण में संलग्न हैं। आचार्य विजयकस्तूर सूरिजी ने तो आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टीशलाका पुरुष चरित्र के प्रथम खंड का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत में पद्यानुवाद किया है। और विजयपद्मसूरि तो निरन्तर छोटी-मोटी प्राकृत रचनायें बनाते ही रहते हैं।

प्राकृत भाषा के साहित्य संबंधी दो इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम डा० जगदीशचन्द्र जैन का और दूसरा डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का, पर प्राकृत साहित्य प्रकाशित बहुत कम हुआ है और हस्तलिखित सामग्री का उपयोग करना उनके लिए सहज नहीं था। इसलिये इन दोनों प्राकृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में अनेकों महत्त्वपूर्ण प्राकृत रचनाओं का नामोल्लेख तक नहीं हो पाया है।

जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। इनमें से दिग-सम्प्रदाय ने धार्मिक विषयों के तो अनेकों ग्रन्थ-प्रधानतया शौरसेनी प्राकृत में लिखे हैं। पर श्वेताम्बरों ने जैन महाराष्ट्री प्राकृत में विविध विषयक जितना विशाल प्राकृत साहित्य का निर्माण किया वह दिगम्बर प्राकृत साहित्य से बहुत अधिक और महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल में मंत्र, यंत्र, तंत्र का भी काफी प्रचार और प्रभाव रहा। शैव एवं शाक्त तथा बौद्ध तांत्रिक ग्रन्थों की विशालता से यह भली-भाँति स्पष्ट है। जैनों ने भी इस प्रभाव को आत्मसात किया पर अपने मर्यादा और विवेक के साथ। इसलिये वे शैव, शाक्त, बौद्ध तांत्रिकों की तरह पतनोन्मुख नहीं हुए। सात्विक आदर्शों को अपनाये रखने और ब्रह्मचर्य, संयम, तप आदि से विभूषित होने के कारण जैनाचार्यों एवं यतियों आदि ने जो प्रसिद्धि प्राप्त की, वे अपनी साधना में भी अधिक सफल हुए और जैन धर्म के प्रचार या शासन प्रभावना में जैनाचार्यों आदि ने जो सिद्धि प्राप्त की वह बहुत ही उल्लेखनीय है। जनकल्याण में भी उन्होंने अपनी सिद्धियों का प्रचुर उपयोग किया। आज भी जो थोड़े से मंत्र-तंत्र-विद् जैन यति हैं उनकी जैन एवं जैनेतर समाज में दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा है।

मन्त्र का सम्बन्ध अक्षर या शब्द से है और यन्त्र का कोष्टक आदि आकृति विशेष से। तंत्र में विधि-विधान का प्राधान्य है। यंत्र अनेक प्रकार के बनाये जाते थे और उनका चमत्कार भी मन्त्र की तरह ही दिखाई देता है। आज भी बहुत से यंत्र लिखकर अनेक रोगियों को रोग-मुक्त किया जाता है। यंत्र लिखे हुए पत्र को पानी में घोलकर वह पानी पिलाया जाता है। मन्दिरों में ताम्बे, पीतल, चाँदी आदि के अनेक तरह के यंत्र मूर्ति की तरह ही पूजे जाते हैं। अनेक यंत्रों का प्रभाव मैंने स्वयं देखा है। अभी-अभी मेरे भ्रातृपुत्र वंशीलाल के मस्से में काफी खून पड़ने लगा। काफी उपचार करने पर भी लाभ न हुआ। मैं उस समय करीमगंज में था सो सिलचर से फोन आया कि करीमगंज में अमुक नाम-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाले बंगाली सज्जन इस रोग निवृत्ति के लिये एक यंत्र देते हैं उसे बनाकर शीघ्र भेजा जाय। तदनुसार मंगलवार को वृद्ध बंगाली सज्जन से यंत्र प्राप्त कर तत्काल सिलचर भेजा गया और बाँधने के बाद से ही खून पड़ना बन्द हो गया। भारतवर्ष की मंत्र, तंत्र, यंत्र की विद्यायें बहुत ही चमत्कारपूर्ण थीं, जिनके प्रति दिनों-दिन अविश्वास बढ़ता जा रहा है और उपेक्षा के कारण इनका लोप होता जा रहा है। हस्तलिखित प्रतियों में बहुत ही अनुभूत प्रयोग और मंत्र, तंत्र आदि लिखे हुए मिलते हैं, जिनका एक समय में बड़ा भारी प्रभाव और प्रचार रहा है। अश्रद्धा एवं उपेक्षा के कारण आज हम उनसे कुछ भी लाभ नहीं उठा पा रहे हैं।

यंत्र अनेक प्रकार के लिखे जाते थे। केवल एक पन्दरहिया एवं बीसा (पन्द्रह और बीस संख्यावाले कोष्टकों) को ही अनेक प्रकार से लिखा जाता था। इन यंत्रों के कोष्टकों के सम्बन्ध में आगम गच्छीया श्री देवरत्न सूरि के शिष्य वाचनाचार्य शील सिंह ने प्राकृत भाषा में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा है, जिसका नाम है—कोष्टक चिंतामणि। मूल ग्रन्थ प्राकृत भाषा की १५१ गाथाओं में रचित है। इन गाथाओं पर ग्रन्थकार ने स्वयं संस्कृत भाषा में विस्तृत वृत्ति लिखी है, जिसका परिमाण ३ हजार श्लोकों से भी अधिक का है। वृत्ति में मूल ग्रन्थ को चार वक्षस्कार में विभक्त कर दिया गया है। मूल ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति ११ पत्रों की है और टीका सहित १०१ पत्रों की है। दोनों प्रतियाँ एक ही व्यक्ति की लिखी हुई है। अक्षर बड़े तथा सुन्दर और सुवाच्य हैं। दोनों प्रतियाँ आगम प्रभाकर सौजन्यमूर्ति मुनि श्री पुण्यविजयजी के संग्रह की हैं। जो वर्तमान में लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद के महत्वपूर्ण संग्रह में सुरक्षित हैं। हमने दोनों प्रतियों की अपने अभय जैन ग्रन्थालय के लिये प्रतिलिपि करवा ली है। मेरे भ्रातृपुत्र भँवरलाल ने कलकत्ता में इस प्रतिलिपि को बड़े मनोयोग से तैयार किया है। ग्रन्थ का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

कोष्टक चिन्तामणि, मूल गाथा १५१

आदि-सिरिवीर जिणं नमिउं, बहुविह जंतंकलिहण करणाइ।
इह भणइ सील सिंहो, आगमिउ वायणायरिउं ॥१॥
चउरं सवट्टा भया, दुविहा अंकाण जंतिया नेया।
वट्टा तत्थदु भेया, गब्भं किण रहिय सहियाय ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चउरं साविय विसमा, समाय नव कोट्ठि सोलकुट्ठिमुहा।
विसमाण तत्थ जंताणि, माइं करणाइं हुंतिकमा ॥३॥
अन्त-विसम सम वट्ट जंता, समासओ-रावमित्थ जे भणिया।
तेसिं विहि महिमा इय, नेयं सव्वं गुरु पसाया ॥१५०॥
सिरि देवरयण गुरुवर, गुण लंकिय सील सालि मुणि सिंघो।
तस्सीमुवुट्ठ पूरण, सुरमणि गन्थं इमं भणइ ॥१५१॥

इति कोष्टक चिंतामणि ग्रन्थः। साद्धशतक रूपः सम्पूर्णः।

श्री श्री आगम गच्छेश श्री देवरत्न सूरिवर शिष्य वाचनाचार्य पं० शील सिंह कृतिरियं चिरंजीयात् ॥

लेखक पाठकयो शुभं भवतु।

अब वृत्ति का परिचय दिया जा रहा है। प्रथम वक्षस्कार विसम कोष्टकाधिकार नामक है:—कोष्टक चिंतामणि साद्धशतकस्यावचूर्णि लिख्यते।

सर्वज्ञं परमं ब्रह्म, ध्यात्यानत्वाचेतं गुरुं।
कोष्ट चिंतामणि ग्रन्थं, विव्रणोमिमनागहं ॥१
अत्र सूत्रं ॥ सिरि० ॥ व्याख्या ॥

श्री वीरजिनं श्री वर्द्धमान स्वामिनं। नत्या प्रणत्य। बहु प्रकारेषु श्रूयं त्रेषु कोष्टकेषु। अंक लिखनस्य करणा नियुक्ती। इह गाणत शास्त्रे। भणति कथयति। शील सिंहः। आगमिको वाचनाचार्यः। अत्र गाथायां॥

मंगलं चाभिधेयं च, संबंधस्व प्रयोजना,
मित्येतच्चतुष्टयं स्वयमेव विलोकनीयमिति गाथार्थः ॥१॥
पूर्वं तावद्यंत्र भेदानाह ॥ वउ०। चउ० ॥

अनयोर्व्याख्या ॥ अंकानां यंत्रा एवं यंत्रकाः। कोष्टका—द्विविधाज्ञेयया:। चतुरस्र वृत्त भेदात्। एके चतुरस्राअन्ये वृताश्च। तत्थति। तत्र तयोर्मध्ये वृत्त कोष्टका द्विभेदा द्विप्रकाराः। एके गर्भा केन रहिता: मध्यांकेन शून्याः। चः समुच्चये अपरे गर्भा केन सहिताः। चौरं सत्ति। चतुरस्रा अपि चकाराद् द्विभेदाः। विसमा समाश्चः विसमाभिहि पंक्ति भिर्विषमेश्चां। के निमितास्ते यंत्राविषमाः नव कोष्टी मखाः। नवानां कोष्टानां समाहारो नव कोष्टी। त्रिगृह यंत्रः। मुखे शब्दात् पंचगृह यंत्रादयोपि।

प्रथम वक्षस्कार में विसम कोष्टक यंत्र प्रकारों का वर्णन मूल की ५० गाथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक में है। द्वितीय वक्षस्कार में सम कोष्टक करण का अधिकार गाथा ११३ तक में है। ये दो अधिकार ही सबसे बड़े हैं। इनमें भी पहले से दूसरा अधिकार बड़ा है। प्रथम अधिकार की टीका पत्रांक ३२ वें में समाप्त होती है। और दूसरे अधिकार की टीका पत्रांक ८० में। तीसरे अधिकार में चतुरस्र यंत्र करण का १२३ वीं गाथा में समापन होता है और चौथा अधिकार वृत्त कोष्टकाधिकार है जिसमें वृत्त यंत्रों के लिखने की विधि है। १४४ की गाथा में यह समाप्त होता है। अन्तिम २ गाथा उपसंहार प्रशस्ति के रूप में हैं। टीका में आगम गच्छ के देवरत्न सूरि को जयाणंद सूरि का पट्टालंकार बतलाया है। ग्रन्थकार शील सिंह देवरत्न सूरि का शिष्य था। ग्रन्थ में रचना का समय भी नहीं दिया गया है। पर, शील सिंह १४वीं शताब्दी में हुए लगते हैं। अपने विषय का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

शील सिंह की अन्य रचनाओं की खोज भी की जानी चाहिये। और प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित करना चाहिए। ग्रन्थकार ने कहीं-कहीं किस यंत्र से क्या लाभ होता है—यह भी बतलाया है। इस विषय में अन्य किसी ग्रन्थ में विशेष विवरण मिलता हो तो उसके साथ इस पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् महावीर की अध्यात्म देशना

श्रीमान् पं० पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर

लोक व्यवस्था

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। इनमें सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला अतीत घटनाओं का स्मरण करनेवाला, तथा आगामी कार्यों का संकल्प करनेवाला द्रव्य, जीवद्रव्य कहलाता है। जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। उन गुणों के द्वारा इसका बोध स्वयं होता रहता है। पुद्गल द्रव्य स्पष्ट ही दिखाई देता है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि उनके संयोग से निर्मित स्कन्ध पर्याय उनके अनुभव में आता है और उसके माध्यम से सूक्ष्म पुद्गल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जीव और पुद्गल के चलने में जो सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहा गया है और जो उक्त दोनों द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। पुद्गल द्रव्य और उसके साथ सम्बद्ध जीव-द्रव्य की गति तथा स्थिति को देखकर उनके कारणभूत धर्म अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव में आता है। समस्त द्रव्यों के पर्यायों के परिवर्त्तन में जो सहायक होता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। पुद्गल के परिवर्तित पर्याय दृष्टिगोचर होते हैं, इससे काल द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। जो सब द्रव्यों को निवास देता है वह आकाश कहलाता है। इस तरह आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जीवादि छह द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य द्रव्य है। शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं—रूपादि से रहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। जीवद्रव्य, अपने ज्ञान-गुण से सबको जानता है और पुद्गल द्रव्य उसके जानने में माध्यम बनता है इसलिये कोई द्रव्य मूर्तिक हो अथवा अमूर्तिक, जीव के ज्ञान से बाहर नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहता। पुद्गल द्रव्य के माध्यम होने की बात परोक्ष ज्ञान—इन्द्रियाधीन ज्ञान में ही रहती है, प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं।

असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के भीतर सब द्रव्यों का निवास है इसलिये सब द्रव्यों का परस्पर संयोग तो हो रहा है पर सबका अस्तित्व अपना-अपना स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्तता भाव रहता है इसलिये संयोग होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का रूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं करता है। यह लोक की व्यवस्था अनादि अनन्त है। इसे न किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और घटपटादि रूप पुद्गल द्रव्य जीव द्रव्य से पृथक् हैं, इसमें किसी को सन्देह नहीं परन्तु कर्म निकर्म रूप जो पुद्गल द्रव्य, जीव के साथ अनादिकाल से लग रहा है, उसमें अज्ञानी जीव भ्रम में पड़ जाता है। वह, इस पुद्गल द्रव्य और जीव को पृथक् पृथक् अनुभव न कर एक रूप ही मानता है—जो शरीर है वही जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति ही जीव कहलाती है। जीव नाम का पदार्थ, इन पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ नहीं है। शरीर के उत्पन्न होने से जीव उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट होने से जीव नष्ट हो जाता है। जब जीव नाम का कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तब परलोक का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। यह जीव विषयक अज्ञान का सबसे वृहद रूप है। यह चार्वाक का सिद्धान्त है तथा दर्शनकारों ने इसे नास्तिक दर्शनों में परिगणित किया है।

आत्मा का स्वरूप

अनेक पदार्थों से भरे हुए विश्व में आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत करना आस्तिक दर्शनों की प्रथम भूमिका है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करने पर ही अच्छे-बुरे कार्यों का फल तथा परलोक का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥

पुरुष—आत्मा है और वह चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नामक पौद्गलिक गुणों से रहित है, गुण और पर्यायों से तन्मय है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से रहित है।

किसी भी पदार्थ का वर्णन करते समय आचार्यों ने दो दृष्टियाँ अङ्गीकृत की हैं—एक दृष्टि स्वरूपोपादान की है और दूसरी दृष्टि पररूपापोहन की। स्वरूपोपादान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की दृष्टि में पदार्थ का अपना स्वरूप बताया जाता है और पररूपापोहन की दृष्टि में परपदार्थ से उसका पृथक्करण किया जाता है। पुरुष—आत्मा चैतन्यरूप है, यह स्वरूपोपादान दृष्टि का कथन है और स्पर्शादि से रहित है, यह पररूपापोहन दृष्टि का कथन है। देख, तेरा आत्मा तो चैतन्य स्वरूप है, ज्ञाता द्रष्टा है और उसके साथ जो शरीर लग रहा है वह पौद्गलिक पर्याय है। यह जो स्पर्शरसगन्ध तथा वर्ण अनुभव में आते हैं वे इसी शरीर के धर्म हैं, उन्हें तू आत्मा नहीं समझ बैठना। तेरा यह आत्मा सामान्य विशेष रूप अनेक गुणों तथा स्वभाव और विभावरूप पर्यायों से सहित है। साथ ही परिणमनशील होने से उत्पादव्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

अध्यात्म शब्द का अर्थ

उपर्युक्त प्रकार से परपदार्थों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करना अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। *'आत्मनि इति अध्यात्मम्'* इस प्रकार अव्ययीभाव समास के द्वारा अध्यात्म शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है आत्मा में अथवा आत्मा के विषय में। अशुद्ध और शुद्ध के भेद से जीव का परिणमन दो प्रकार का होता है। जिसके साथ नोकर्म द्रव्य कर्म और भावकर्म रूप पर पदार्थ का संसर्ग हो रहा है ऐसा संसारी जीव अशुद्ध जीव कहलाता है और जिसके साथ उपर्युक्त परपदार्थ का संसर्ग नहीं है ऐसा सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीव कहलाता है। अशुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमें अन्य धातुओं के संमिश्रण से अशुद्धता आ गई है और शुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमें से अन्य धातुओं का संमिश्रण अलग हो गया है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि इस स्वर्ण में अन्यद्रव्य का संमिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि आत्मा में अन्य द्रव्य का संमिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। जिस पुरुष ने स्वद्रव्य—आत्मद्रव्य में मिले हुए परद्रव्य का अस्तित्व पृथक् समझ लिया वह एक दिन स्वद्रव्य की सत्ता से परद्रव्य की सत्ता को नियम से निरस्त कर देगा, यह निश्चित है।

स्वभाव-विभाव

शरीर को नो कर्म कहते हैं। यह नो कर्म स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य की परिणति है इसीलिये तो स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण से सहित है। इसमें आत्मा को पृथक्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभव करना यह अध्यात्म की पहली सीढ़ी है। ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, पौद्गलिक होने पर भी इतने सूक्ष्म हैं कि वे इन्द्रियों के द्वारा जाने नहीं जा सकते। साथ ही आत्मा के साथ इतने घुले-मिले हुए हैं कि एक भव से दूसरे भव में भी उसके साथ चले जाते हैं। उन द्रव्य कर्मों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की दूसरी सीढ़ी है।

द्रव्यकर्म के उदय से होनेवाला विकार आत्मा के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त होता है कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी जीव भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। अग्नि का स्पर्श उष्ण है तथा रूप भास्वर है पर जब वह अग्नि पानी में प्रवेश करती है तब अपने भास्वररूप को छोड़कर पानी के साथ इस प्रकार मिलती है कि सब लोग उस उष्णता को अग्नि की न मानकर पानी की ही मानने लगते हैं। 'पानी उष्ण है' यह व्यवहार उसी मान्यतामूलक है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म के उदय में होनेवाले रागादिक विकारी भाव, आत्मा के साथ इस खूबी से मिलते हैं कि अलग से उनका अस्तित्व अनुभव में नहीं आता। तन्मयीभाव से आत्मा के साथ मिले हुए रागादिक विकारी भावों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना अध्यात्म की तीसरी सीढ़ी है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है। वह समझता है कि स्वभाव कहीं बाहर से नहीं आता, वह स्व में सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव का द्रव्य के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव रहता है। और विभाव, वह कहलाता है जो स्व में पर के निमित्त से उत्पन्न होता है। जब तक पर का संसर्ग रहता है तब तक वह विभाव रहता है और जब पर संसर्ग छूट जाता है तब वह विभाव भी दूर हो जाता है। जैसे शीतलता पानी का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आती परन्तु उष्णता पानी का विभाव है क्योंकि वह अग्नि के संसर्ग से आती है। जबतक अग्नि का संसर्ग रहता है तबतक पानी में उष्णता रहती है और जब अग्नि का संसर्ग दूर हो जाता है। तब उष्णता भी दूर हो जाती है। ज्ञानदर्शन, आत्मा का स्वभाव है, यह कहीं बाहर से नहीं आता परन्तु रागादिक विभाव है क्योंकि वे द्रव्यकर्म की उदयावस्था से उत्पन्न होते हैं और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए उनका आत्मा के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव नहीं है। इस प्रकार परपदार्थ से भिन्न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का प्रयोजन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म और स्वरूप निर्भरता

ज्ञानी जीव अपने चिन्तन का लक्ष्य वाह्यपदार्थों को न बनाकर आत्मा को ही बनाता है। वह प्रत्येक कारणकलाप को आत्मा में ही खोजता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग आदि के प्रसङ्ग इस जीव को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। अज्ञानी जीव ऐसे प्रसङ्गों पर सुख-दुःख का कारण अन्य पदार्थों को मानकर उनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है जबकि ज्ञानी जीव, उन सभी का कारण अपनी परिणति को मानकर वाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर रहता है। ज्ञानी-जीव विचार करता है कि मैंने जो भी अच्छा-बुरा कर्म किया है उसी का फल मुझे प्राप्त होता है। दूसरे का दिया हुआ सुख-दुःख यदि प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाय*। पर ऐसा होता नहीं है।

ज्ञानी जीव की यह श्रद्धा रहती है कि मैं परपदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न आत्मतत्त्व हूँ तथा उसी की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील हूँ। इसकी उपलब्धि, अनादिकाल में श्रुत परिचित और अनुभूत कामभोगबन्ध की कथा से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति तो परपदार्थों से लक्ष्य हटाकर स्वरूप-विनिवेश—अपना उपयोग अपने आप में ही स्थिर करने से हो सकती है। अध्यात्म के सुन्दर उपवन में बिहार करनेवाला पुरुष, बाह्य-जगत् से पराङ्मुख रहता है। वह अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव का ही बारबार चिन्वन कर उसमें बाधा डालनेवाले रागादि विकारी भावों को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करता है। द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर यद्यपि उसकी आत्मा में रागादि विकारभाव प्रगट हो रहे हैं तथापि उसकी श्रद्धा रहती है कि यह तो एक प्रकार का तूफान है, मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो अत्यन्त शान्त है—पूर्ण वीतराग है। पदार्थ को जानना, देखना ही मेरा काम है, उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करना मेरा काम नहीं है, मैं तो अबद्ध-स्पृष्ट तथा पर से असंयुक्त हूँ। अध्यात्म इसी आत्मनिर्भरता के मार्ग को स्वीकृत करता है।

यद्यपि जीव की वर्त्तमान में बद्ध स्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व में प्रलीन हो रहे हैं तथापि अध्यात्म, जीव के अबद्धस्पृष्ट और उसके फलस्वरूप रागादिरहित—वीतराग स्वभाव की ही अनुभूति

---

* स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥ अमितगति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना ही अध्यात्म का उद्देश्य है अतः संयोगज दशा और संयोगज भावों की ओर से वह मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। उसका उद्घोष है कि हे मुमुक्ष प्राणी! यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करता है तो इस संयोगज दशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा?

ज्ञानी जीव, कर्म नो कर्म और भाव कर्म से तो आत्मा को पृथक् अनुभव करता ही है परन्तु ज्ञेय ज्ञायक भाव और भाव्य भावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार दर्पण, अपने में प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है उसी प्रकार आत्मा, अपने ज्ञान में आये हुए घट पटादि ज्ञेयों से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण, ज्वालाओं के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा, अपने अस्तित्व में रहनेवाले सुख-दुःख रूप कर्म के फलानुभव से रहित है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं [1]निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञान से तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। ज्ञानी यह भी[2] मानता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, संयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।

इस प्रकार के भेदविज्ञान की महिमा बतलाते हुए भी अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार कलशा में कहा है—

> भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
> तस्यैव भावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

आज तक जितने सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे सब भेद विज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

---

१ अहमिक्को खलु शुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि॥
समयसार, कुन्दकुन्द

२—एगो मे सासदो अप्पा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
नियमसार कुन्दकुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म और नय व्यवस्था—

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का विवेचन करनेवाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय—आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना में उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदों का निरूपण है। इस विवेचना में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि, आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। इस दृष्टि में शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसीलिये उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करनेवाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध स्वरूप को। अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आमत्वरूप को प्राप्त करने का है इसलिये वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक-स्वभाव को ग्रहण करना निश्चय दृष्टि का कार्य है और कर्म के निमित्त से होनेवाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है। निश्चय दृष्टि, आत्मा में काम, क्रोध मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करती। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः उन्हें पुद्गल माननी है[1] इसी तरह गुणस्थान

१—ए ए सव्वे भावा पुग्गल दव्व परिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहि भणिया कहने जीवो ति वुच्चंति॥

२.—णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गल दव्वस्स परिणामा॥ समयसार कुन्द-कुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा मार्गणा आदि के विकल्प जीव के स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय दृष्टि उन्हें स्वीकृत नहीं करती। इन सब को आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है।

अध्यात्म, निश्चयदृष्टि—निश्चय नय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। आत्म-तत्त्व की वर्तमान में जो अशुद्ध दशा चल रही है उसका सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है? यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिये मोक्ष मार्ग रूप पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होता है। अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभिप्राय इतना ही है कि हे प्राणी! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ। यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायगा। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायों का समूह है, उसे मात्र शुद्ध पर्याय रूप मानना संगत नहीं है। जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यों करेगा? वस्तु स्वरूप के विवेचन में अनेकान्त का आश्रय ही स्व पर हितकारी है अतः अध्यात्म वादी की दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्यकारण भाव

कार्य की सिद्धि में उपादान और निमित्त इन दो कारणों की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होता है। मिट्टी, घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, चक्र, चविर आदि निमित्त कारण हैं। जिस मिट्टी में बालू के कणों की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की योग्यता नहीं है उसके लिये कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी में घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिये यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणों का योग नहीं मिलता है तो उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति में मिट्टी रूप उपादान और कुम्भकारादि रूप निमित्त—दोनों कारणों की आवश्यकता है। इस अनुभव सिद्ध और लोकसंमत कार्य कारण भाव का निषेध न करते हुए अध्यात्म, मुमुक्षु प्राणी के लिये यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले सँभाल, यदि तू मात्र निमित्त कारणों की खोजबीन में उलझा रहा और अपनी आत्मशक्ति की ओर लक्ष्य नहीं किया तो उन निमित्त कारणों से तेरा कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायगा? जो किसान, खेत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्म और नय व्यवस्था—

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का विवेचन करनेवाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय—आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना में उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदों का निरूपण है। इस विवेचना में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि, आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। इस दृष्टि में शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसीलिये उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करनेवाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध स्वरूप को। अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आमत्वरूप को प्राप्त करने का है इसलिये वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक-स्वभाव को ग्रहण करना निश्चय दृष्टि का कार्य है और कर्म के निमित्त से होनेवाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है। निश्चय दृष्टि, आत्मा में काम, क्रोध मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करती। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः उन्हें पुद्गल मानती है[1] इसी तरह गुणस्थान

१—ए ए सव्वे भावा पुग्गल दव्व परिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहि भणिया कहने जीवो त्ति वुच्चंति॥

२.—णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गल दव्वस्स परिणामा॥ समयसार कुन्द-कुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा मार्गणा आदि के विकल्प जीव के स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय दृष्टि उन्हें स्वीकृत नहीं करती। इन सब को आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है।

अध्यात्म, निश्चयदृष्टि—निश्चय नय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। आत्म-तत्त्व की वर्तमान में जो अशुद्ध दशा चल रही है उसका सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है? यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिये मोक्ष मार्ग रूप पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होता है। अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभिप्राय इतना ही है कि हे प्राणी! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ। यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायगा। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायों का समूह है, उसे मात्र शुद्ध पर्याय रूप मानना संगत नहीं है। जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यों करेगा? वस्तु स्वरूप के विवेचन में अनेकान्त का आश्रय ही स्व पर हितकारी है अतः अध्यात्म वादी की दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्यकारण भाव

कार्य की सिद्धि में उपादान और निमित्त इन दो कारणों की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और निमित वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होता है। मिट्टी, घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, चक्र, चविर आदि निमित्त कारण हैं। जिस मिट्टी में बालू के कणों की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की योग्यता नहीं है उसके लिये कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी में घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिये यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणों का योग नहीं मिलता है तो उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति में मिट्टी रूप उपादान और कुम्भकारादि रूप निमित्त—दोनों कारणों की आवश्यकता है। इस अनुभव सिद्ध और लोकसंमत कार्य कारण भाव का निषेध न करते हुए अध्यात्म, मुमुक्षु प्राणी के लिये यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले सँभाल, यदि तू मात्र निमित्त कारणों की खोजबीन में उलझा रहा और अपनी आत्मशक्ति की ओर लक्ष्य नहीं किया तो उन निमित्त कारणों से तेरा कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायगा? जो किसान, खेत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की भूमि को तो खूब संभालता है परन्तु बीज की ओर दृष्टिपात नहीं करता, उस संभाली हुई खेत की भूमि में यदि सड़ा घुना बीज डालता है तो उसमे क्या अंकुर उत्पन्न हो सकेंगे? कार्यरूप परिणति उपादान की होनेवाली है इसलिए उसकी ओर दृष्टि देना आवश्यक है। यद्यपि उपादान निमित्त नहीं बनता और निमित्त उपादान नहीं बनता यह निश्चित है तथापि कार्य की सिद्धि के लिए दोनों की अनुकूलता अपेक्षित है इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

अध्यात्म और मोक्षमार्ग

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। इस मान्यता को अध्यात्म भी स्वीकृत करता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की व्याख्या को निश्चयनय के सांचे में ढाल कर स्वीकृत करता है। उसकी व्याख्या है-पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा में लीन होना सम्यक् चारित्र है। इस निश्चय अथवा अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर ही यह जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं, इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग यह निश्चय रत्नत्रय ही है। देवशास्त्र गुरु की प्रतीति अथवा सप्त तत्त्व के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, जीवादि तत्त्वों के जानने रूप सम्यग्ज्ञान और व्रत समिति गुप्ति आदि आचरण रूप सम्यक् चारित्र.....यह व्यवहार रत्नत्रय, यदि निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक है तो वह परम्परा से मोक्ष मार्ग होता है। व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति अनेक बार हुई पर निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना वह मोक्ष का साधक नहीं बन सकी।

निश्चय रत्नत्रय आत्मा से सम्बन्ध रखता है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मोक्ष मार्ग में प्रयोजनभूत जीवाजीवादि पदार्थों के श्रद्धान और ज्ञान को तथा व्रत समिति गुप्ति रूप आचरण को हेय मानता है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि इन सब का प्रयोजन आत्म श्रद्धान ज्ञान और आचरण में ही संनिहित है अन्यथा नहीं। इसलिये इन सब को करते हुए मूल लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

नव पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकृत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है—

भूयत्थेणाधिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलार्थ--निश्चय नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी में अभेद करते हुए नौ पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। वस्तुतः ये सम्यग्दर्शन के विषय हैं।

जीव[1] चेतना गुण से सहित तथा स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द से रहित है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्व दशा में यह जीव, शरीर रूप नो कर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मान कर उसमें अहंकार करता है--'इस रूप मैं हूँ' ऐसा मानता है। इसलिये सर्व प्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की जाती है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादिक भाव कर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया जाता है। कहा गया है--हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं अतः पुद्गल के हैं, तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है?

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहने में कोई खास बात नहीं है किन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ घुलमिलकर अनित्य तन्मयीभाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव मानना सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधक है। रागादिक भाव अजीव हैं, गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास आदि भाव अजीव हैं, यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। यहाँ 'अजीव हैं' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीव की स्वाभाविक परिणति नहीं हैं। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल में भी इनका अभाव नहीं होता परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की उदयावस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर स्वयं विलीन हो जाते हैं।

संसारचक्र से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है इसलिये आस्रव पदार्थ के विवेचन के पूर्व ही इसे सचेत करते हुए कहा गया है कि हे मुमुक्षु प्राणी! तू मोक्ष रूपी महानगर की यात्रा के लिये निकला है। देख, कहीं बीच में पुण्य के प्रलोभन में नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभन में पड़ा तो एक झटके में ऊपर से नीचे आ जायगा। और सागरों पर्यन्त के लिये उसी पुण्य महल में नजर कैद हो जायगा।

१--अरस मरूव मगंधं अव्वत्तं चेदणा गुण मसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीव मणिद्दिट्ठ संठाणं॥ समयसार, कुन्दकुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव लोक में पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापों में प्रवृत्तिरूप भाव कहे जाते हैं। पुण्य के फलस्वरूप पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियों का। जब उन पुण्य पाप प्रकृतियों का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकने वाला है। स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला मनुष्य जिस प्रकार लोहश्रृङ्खला से दूर रहना चाहता है उसी प्रकार स्वर्ण-श्रृङ्खला से भी दूर रहना चाहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को बन्धन की अपेक्षा पुण्य और पाप को एक समान मानना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन, पुण्य रूप आचरण का निषेध नहीं करता किन्तु उसे मोक्ष का साक्षात् कारण मानने का निषेध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव, अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है और उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है।

संक्षेप में जीव द्रव्य की दो अवस्थाएँ हैं—एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। संसार अवस्था का कारण आस्रव और बन्धतत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण संवर और निर्जरा है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं—१ मिथ्यात्व २ अविरमण ३ कषाय और ४ योग। इन भावों का यथार्थरूप समझ कर उन्हें आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है।

आस्रव का विरोधी तत्व संवर है अतः अध्यात्म ग्रन्थों में आस्रव के अनन्तर संवर की चर्चा आती है।[१] आस्रव का रुक जाना संवर है। जिन मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग रूप परिणामों से आस्रव होता है उनके विपरीत सम्यक्त्व, संयम, निष्कषाय वृत्ति और योग निग्रह रूप गुप्ति से संवर होता है। अध्यात्म में इस संवर का मूल कारण भेदविज्ञान को बताया है। कर्म और नो कर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न हैं अतः उनसे भेदविज्ञान प्राप्त करने में

---

१ आस्रव निरोधः संवरः तत्वार्थ सूत्र—उमास्वामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महिमा नहीं है। महिमा तो इन रागादिक भाव कर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है जो तन्मयी भाव को प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। मिथ्या दृष्टि जीव, इस ज्ञानधारा और मोहधारा को भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता, इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी-द्वेषी नहीं होता। जहाँ यह जीव, रागादिक को अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्ध से होने वाले राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्ष को उखाड़ना है तो उसके पत्ते नोंचने से काम नहीं चलेगा किन्तु उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग-द्वेष की जड़ है भेदविज्ञान का अभाव। अतः भेदविज्ञान के द्वारा उन्हें अपने स्वरूप से पृथक् समझना, यही उनको नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। मोक्षाभिलाषी जीव को इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता।

सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म परमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति समय हो रही है पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नहीं होता। क्योंकि जितने कर्म परमाणुओं की निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रवपूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण, उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओं का आस्रव और बन्ध नहीं होता। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है। सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक कार्य निर्जरा का साधक हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य मरण को प्राप्त नहीं होता और अरतिभाव से मदिरा पान करने वाला पुरुष मद के प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगोपभोग में प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। सुवर्ण, कीचड़ में पड़ा रहने पर भी जंग को प्राप्त नहीं होता और लोहा थोड़ी सी सर्द पाकर जंग के प्राप्त हो जाता है, यह सुवर्ण और लोहा की अपनी अपनी विशेषता है।

यद्यपि आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनों में चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है, फिर भी अनादि काल से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनका एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहा को खींचने की और लोहा में खिचे जाने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म रूप पुद्गल का खींचने की और कर्म रूप पुदगल में खींचे जाने की योग्यता है। अपनी अपनी योग्यता के कारण दोनों का एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध हो रहा है। इस बन्ध का प्रमुख कारण स्नेहभाव-रागभाव है। जिस प्रकार धूलिबहुल स्थान में व्यायाम करने वाले पुरुष के शरीर के साथ जो धूलि का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण शरीर में लगा हुआ स्नेह-तैल है उसी प्रकार कार्मणवर्गणा से भरे हुए इस संसार में योग रूप व्यायाम को करनेवाले जीव के साथ जो कर्मों का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह-रागभाव ही है। सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोड़ों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण पश्चरण आदि करता भी है परन्तु उसका वह धर्माचरण भोगोपभोग की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है, कर्मक्षय के लिये नहीं[1]।

समस्त कर्मों से रहित आत्मा की जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व होने वाली बन्ध अवस्था का प्रत्यय कराता है। जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बन्ध के कारणों को जानता है तथा बन्ध के भेद और उनकी तीव्र मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। बन्धन से मुक्त होने के लिये तो छेनी और हथौड़ा लेकर उसके छेदने का पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार अनादि काल से कर्मबन्धन में पड़ा हुआ यह जीव कर्मबन्धन के कारणों को जानता है तथा उसके भेद और तीव्र मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिये तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चारित्ररूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। इस पुरुषार्थ को स्वीकृत किये बिना कर्म-बन्धन से मुक्त होना दुर्भर

---

[1] सद्दहदि य पत्तेदियरोचेदिय तह पुणो य फासेदि।
धम्मंभोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥

समयसार, कुन्दकुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। हे प्राणी! मात्र ज्ञान और श्रद्धान को लिये हुए तेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है पर यूँ कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो पाता परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञान के साथ जहां सम्यक् चारित्ररूप पुरुषार्थ को अंगीकृत करता है वहां तेरा काम बनने में विलम्ब नहीं लगता। यहां तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है। प्रज्ञा—भेदविज्ञान के द्वारा कर्म और आत्मा को अलग अलग समझकर आत्मा को ग्रहण करना चाहिये और कर्म को छेदना चाहिये।

इस प्रकार अध्यात्म, जीव जीवादि पदार्थों की व्याख्या अपने ढंग से करता है।

सम्यग्ज्ञान की व्याख्या में अध्यात्म, अनेक शास्त्रों के ज्ञान को महत्व नहीं देता। उसका प्रमुख लक्ष्य पर पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण प्रर्यायों से अभिन्न आत्मतत्त्व के ज्ञान पर निर्भर करता है। इसके होने पर अष्ट प्रवचन मातृका का जघन्य श्रुत लेकर भी यह जीव बारहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है और अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवल ज्ञानी बन जाता है। परन्तु आत्मज्ञान के बिना ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वों का पाठी होकर भी अनन्त काल तक संसार में भटकता रहता है। अन्य ज्ञानों की बात जाने दो, अध्यात्म तो केवल ज्ञान के विषय में भी यह चर्चा प्रस्तुत करता है कि केवल ज्ञानी निश्चय से आत्मा को जानता है और व्यवहार से लोकालोक को [1]। यह ठीक है कि केवल ज्ञानी की आत्मज्ञान में ही सर्वज्ञता निहित है परन्तु यह भी निश्चित है कि केवल ज्ञानी को अन्य पदार्थों के जानने की इच्छारूप कोई विकल्प नहीं होता।

अध्यात्म यथाख्यात चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानता है क्योंकि उसके होने पर ही मोक्ष होता है। महाव्रत और समिति के विकल्प रूप जो सामायिक तथा छेदोपस्थापना आदि चारित्र हैं वे पहले ही निवृत्त हो जाते हैं। यथाख्यात चरित्र मोक्ष का साक्षात् साधक नहीं है। उसे धारण करनेवाला उपशान्त मोह गुण स्थान वर्त्ती जीव नियम से अपनी भूमिका से पतित होकर नीचे आता है परन्तु क्षय से होनेवाला यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साधक नियम से है। उसके होने पर यह जीव उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है। स्वरूप में स्थिरता यथाख्यात चारित्र से ही होती है।

---

१. जाणादि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥
नियमसार, कुन्द कुन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार अध्यात्म की देशना में निश्चय रत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय ही मोक्ष का साकार मार्ग है। व्यवहार रत्यत्रय अथवा भेदरूप रत्नत्रय, निश्चय का साधक होने के कारण उपचार से मोक्ष मार्ग माना जाता है।

महावीरस्वामी की इस अध्यात्मदेशना को सर्वप्रथम कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका समयसार तो अध्यात्म का ग्रन्थ माना ही जाता है पर प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार तथा अष्ट पाहुड़ आदि ग्रन्थों में भी यथाप्रसङ्ग अध्यात्म का अच्छा समावेश हुआ है। कुन्दकुन्दस्वामी की विशेषता यह रही है कि वे अध्यात्म के निश्चयनय सम्बंधी पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आगम के व्यवहारपक्ष को भी प्रकट करते चलते हैं। कुन्दकुन्द के बाद हम इस अध्यात्मदेशना को पूज्यपाद के समाधितन्त्र इष्टोप-देश में पुष्पलना से पाते हैं। योगेन्द्र देव का परमात्म प्रकाश और योगसार भी इस विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रकीर्णक स्तम्भ के रूप में आचार्य पद्मनन्दी तथा पण्डित प्रवर आशाधरजी ने भी इस धारा को समुचित प्रश्रय दिया है। अमृत चन्द्र सूरि ने कुन्दकुन्दस्वामी के अध्यात्म रूप उपवन को सुरभि से संसार को सुरभित किया है। यशस्तिलक चम्पू तथा नीति वाक्यामृत के कर्ता सोम देवाचार्य की 'अध्यत्मामृततरङ्गिणी' भी इस विषय का एक उत्तम ग्रन्थ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE JAINA ANTIQUARY

Vo. XXV JUNE 1973 No. 1

"श्रीमत्परमगम्भीरस्यद्वादामोघलाञ्छनम्
जीयात् त्रैलीवयनाथस्य शासनं जिनशासनम् ।।"
[अकलंक देव]

Editors

Dr. Jyoti Prasad Jain, M. A., Ph. D.
Dr. Nemi Chandra Shastri, Jyotisacharya,
M. A., Ph. D., D. Litt.

PUBLISHED BY

Shri Subodh Kumar Jain, Secretary

SRI DEVKUMAR JAIN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE

[Shree Jain Siddhant Bhawan]

ARRAH : BIHAR : INDIA

ANNUAL SUBSCRIPION :

Inland Rs. 20-00 Foreign Rs. 30-00] [Single Copy Rs. 10-00

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

CONTENTS

1. Jivak Chintamani

—Late Prof. A. Chakravarti, M. A., I. S. E.···· 1

2. Sources of Paumasiricariu

—Dr. K. R. Chandra ····40

3. Sravana Belgol and Gommatesvara

—Prof. Dr. A. N. Upadhye ···· 45

4. Jain Logic : Five Questions Discussed

—Shri G. L. Amar ···· 53

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

JIVAKCHINTAMANI

By

Late Prof. A Chakravarti, M. A., I. S. E.

(Contd. from J. A. Vol. XXI No. II pp. 15-34.)

belief in the nature of reality so clearly understood constitutes true belief. Equipped with such true knowledge and true belief to strive to walk the path of righteousness and thus shapes one's conduct, will be right conduct. These 3 together constitute a spiritual fire. This spiritual fire is able to burn and destroy the luxuriant growth of the karmas, good and bad which surrounds the soul. When this luxuriant growth is thus burnt to ashes, the self shines with its intrinsic purity and brilliance, uninterrupted by the surrounding dark growth of trees. Then the self becomes equipped with infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite bliss. Finally, the other 4 karmas get destroyed. As a result of this, the soul attains 4 other qualities, viz. absence of Nāmakarma, of Gotra, of Āyus and eternal nature. These qualities imply complete absence of rebirth. Hence there is no more life in Saṁsāra, no more social status in the world and no more change in life. The perfect Ātman with these 8 infinite qualities becomes Paramātman worshipped by the Devas. Such a supreme being represents Moksa or spiritual libaertion. That ought to be the faith of all persons.

Section XIX

The story of previous birth and the lesson to refrom

The great saint resembled a mountain. His preaching the Dharma was like a stream flowing down the hill. The king bathed in that stream in order to purify his soul. After thus enjoying the sweet words of the saint who described the nature of Dharma, the king addressed the holy saint as follows: "Master, please give me an idea of my previous birth."

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The holy saint who had the privilege of possessing the brilliant light kindled by Tapas illuminating the past as well as the future besides the present, consented to describe faithfully the past life of the king. There is a fertile and prosperous country by name Dhataki. The towns and villages in that country are surrounded by fertile fields and beautiful tanks full of lotus flowers. The country is so prosperous and the people so happy that there was no necessity for keeping law and order since there are no crimes in the State. The capital of the State with wide streets and huge sky-scrapping palatial buildings resemble the golden city, the residence of the God of wealth. This City, Amarāvatī on earth-called Bhūmitilaka. There reigned a king of kings by name Bhavana Deva. His beautiful queen was called Jayamati. She gave birth to a son called Yasodhara. He was a lion among princes. He wedded a number of princessess. The prince was leading happy life surrounded by his queens enjoying in dance and music for their benefit. One day, the prince together with the ladies of the royal household went to the lotus tank to enjoy water sport. In that tank, lived a number of swans with some young ones. When the prince and his queens entered the tank, these swans flew away in fright. But young ones which had not yet learnt flying and whose wings were undeveloped hid themselves behind lotus flowers in order to save themselves. The prince noticed the beautiful cygnet hiding itself behind a lotus flower. It was also noticed by his ladies who desired to have it. They requested the noble prince to get that young swan. The prince gladly obliged them by capturing the cygnet which he offered to the ladies. They all returned to the palace with the young swan. The cygnet whose natural abcde is the lotus tank, is now transferred to the royal palace. The ladies of the royal household tended it with great care and kindness and nourished it with milk and food.

One day the king by chance happened to see this young swan with the ladies who hugged it close to their heart. The king at once wanted to know who separated this young swan from its parents. The royal servant informed the king at once

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

that is was the prince Yaśodhara. Hearing these words, the king ordered his servant to bring the prince to him at once. The servant immediately went to the prince and communicated the king's order to him. Forthwith the prince went to the king, saluted him and bowed down before him. Patiently standing before the king, the prince waited for king's orders. The king seated in his throne while the maids of the royal household were fanning told the prince as follows : "Separating a young bird from its parent and keeping it in captivity are distinctly leading to evil Karmas. Sowing these two evil seeds will produce a rich harvest of evil and suffering. Oh Brave Prince, such evil conduct will corrupt the soul. A corrupting influence of such an evil will result in pain and suffering. Remember, inflicting pain on living beings and killing them is the worst kind of evil deed. Abstaining from such cruelty must be the important principle of conduct. Realise that Ahiṃsā or non-violence is the best of all virtue. Similarly devotion to truth will amount to greatness in this world and will lead you to happy heavens hereafter. Forgetting these, if one indulges in untruth, he may have disgrace in this world and suffering in hell hereafter. There is no doubt about this. Hence one ought to give up speaking untruth."

"Again listen to this. The third impoitant principle of moral conduct is not indulging in theft as it is also a moral evil. A thief will be severely punished by the State. Besides the punishment, he will have to suffer the consequences of evil conduct hereafter. Hence, the tendency to steal must also be strictly avoided. Fourthly, if one enters another man's house with the evilpurpose of enjoying stealthily with that another man's wife when she is alone, he will always be courting danger; a sword will always be hanging over him. Such an evil desire connected with great danger and pain ought not be indulged in. Beings with intense lust, with the destructive anger, inordinate desire to be decorated with garments and scents and who carry weapon with them, are not the benevolent beings to save you. The being thus free from all such evil qualities is the only one who will be able to save you. Hence, be not deceived by such false gods. Take refuge at the feet of the Benovelent Lord who

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

revealed the Ahimsā Dharma of Universal love. My son, realise this carefully. One who heartlessly separates a young bird from its parents and keeps it in captivity will have to eat the fruit thereof. Destiny of his own Karma will separate him from his parents, and he may have to spend his time in captivity. Remember that what you did, in the case of cygnet is not right conduct. The evil resulting from one's own conduct will never leave him. At the time of death, his soul may leave the body behind as a corpse. But the evil Karma will pursue the soul till it enters another body and is born again. Throughout its interval, the evil Karma sticks on his soul and continue to determine its nature in the next birth also. But those who pursue the path of Dharma, those who show love and mercy towards all living beings, will achieve an accumulation of virtue which will never desert him even after his death. It will always faithfully follow him like a shadow of a bird in flight. This good Karma which follows faithfully upto his next birth will serve him faithfully and produce all the happiness that are desired by that good soul. But persons ignorant of true Dharma will waste their life in the enjoyment of pleasures derived from sex satisfaction and will regret at the end of their life for not doing anything good while they were hale and healthy. This regret at the time of death will not be of any good to them. But those who choose a noble life, who engage themselves in strict spiritual discipline and moral development of self when faced with death, will courageously face the situation and clearly realise that the wealth and children around then are absolutely useless to save them. They will concentrate their thought on firm Dharna which is the only a sure course capable of saving them."

After listening to this discourse of Dharm from his father—the King—the prince repented for his conduct, ran to the ladies and took the young swan from their possession to the lotus tank. He released it there and had it restored to the company of its parents and other birds. After learning this moral lesson from his father, the prince got disgusted with his life in pursuit of inferior happiness derived from the enjoyment of the company of

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

his young ladies. He developed complete aversion to this kind of life. "I am going to renounce all these and adopt a life of an ascetic. I will go out to the forest and pursue spiritual discipline by Tapas": so said the prince to the king.

The king who was surprised at this declaration by the young prince Yaśhodhara, advised him to wait till he inherits the power of sovereignity. "Then assigning it to your son by abdicating what you inherit, you may renounce and go to perform Tapas" thus replied the king. This advice from the king was not relished by the prince. He addressed the king thus: "Oh Great Father, an unfortunate person escapes from captivity and runs for his life. He is pursued by some persons who recapture and imprison him once again. Those who prevented his escape, are they his friends or foes ?". At this question, from the prince, the king was shocked. The king had to admit that parents, wife and children are not man's real friends. They are brought together in his household by destiny. They cannot be of any help to one's spiritual development. The only true friend for an individual is his own loyalty to Dharma and his own determination to walk the path of virtue. Hence it is not proper to stand in the way because one has to choose his own ideal.

Getting this freedom from the king, the prince Yaśodhara once for all decided to adopt the life of an ascetic. Renouncing all his mates of the royal household and all the prosperity and happiness, he went out as a holy saint to pursue his own path of spiritual development. As a result of the prince's renunciation, the king and his queen also decided to adopt the ascetic life in order to spend their time in austerities and spiritual discipline. The prince who adopted the ascetic life after performing the Tapas was born as Indra of Sahasrārakalpa. Disgusted with the happiness of Indra in Devaloka, he was born in this world with the object of pursuing a higher and noble life leading to the eternal bliss of Mokṣa. That Indra of Sahasspārakalpa born in this world is just yourself.

Thus the holy saints addressed Jībaka informing him of his previous birth and the carrier leading to the present situation. "Oh king ! In the previous birth, you captured the young swans

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

and kept it as captive from its parents. As a result of this evil conduct, you were seperated as a baby from your mother and relations. Youwe re also kept almost as captive throughout your early period."

These words from the holy saint created commotion in the soul of Jīvaka and all ties of royal prosperity snapped in a moment. Recovering from the shock, Jīvaka surrounded by his queens worshipped at the feet of the holy saints—the Cāraṇas. The two saints then took leave of the king and departed flying in air. The bodies of the holy saints shining in spiritual glory like the sun and moon, were moving together in the sky. The brilliant light from their bodies illuminated the whole sky.

Section xx

Choosing the heir and successor to the throne.

At the departure of the two Cāranas, the queens remained in consternation and anxiety. Their eyes were filled with tears because of the grief that the king will certainly renounce the world. The king never uttered one single word to comfort them. Quickly he went to the palace. The king did not share the bed with the queens. Without his company, therefore, they had to rest themselves in their bed. Similarly the queens did not utter any word which would not be soothing to the heart of the king. Now they lost the beauty and lustre of their body like the moon in eclipse. The king's speech was heretofore enjoyed by the queens with thrill. To their great sorrow, the king now says "Let me tell you about renunciation". Then he ordered his officers to call Nandattan, the commander-in-chief of the army. Accordingly, Nandatta appeared before the king bowing. After saluting the king, he wanted to know why he was sent for. "Oh king, I am ready to obey your command. Please let me know what service is expected from me", so asked the commander-in-chief.

"The country is full of fertile fields. The cattle wealth is also plenty. I want you to succeed me as sovereign of the land. Accept it and rule over the country having the happiness of the people at heart." Hearing these words of the king, Nandattan replied: "Sir, I know the country is rich and fertile. There is no useless

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

forest except the forest of sugarcane. Still I do not desire the privilege and happiness of ruling over such a country. Nay, I desire neither the happiness of Svarga nor Moksa. What is all that to me ? This is the only thing I desire that I should always be at your feet serving you loyally and faithfully". In these word, Nandattan clearly expressed his attitude. He did not desire to rule over the land. What he desired was just what the king has chosen for himself the great renunciation.

Hearing these loyal words of Nandattan, the king Jīvaka had no hesitation in his mind. His renunciation is settled and there is no chance of changing his mind. The only thing to be done at present is to choose a successor who is both willing and able to bear the weight of sovereignity. The prince Satcindan is the proper person for it. With this decision, the king sent for the prince Satcindan. Of all the princes born to the king, the prince Satcindan born to his queen Gandarvadattā is the seniormost. Therefore the king decided to offer his throne to Satcindan. With this decision, the King addressed the prince Satcindan as follows: "Oh prince, the king designate, you be the ruler of the whole state. Take care that your reign is upright. Choose your ministers from among the pure and upright. Always maintain Dharma. It you observe these principles strictly, happiness will be your lot and also that of the people as well. There is no greater glory than this for a king. If an elephant is daily fed with sufficient quantity of paddy, it will have its hunger satisfied; there will be no danger to its life. If the elephant is not carefully fed and protected like this, it will of its own accord enter rich fields in its eagerness to satisfy its hunger. The result will be the fields will be destroyed and the elephant thereafter will go without food. The king is exactly in the same position. He must collect his revenue by correct means. Then the people will be happy and will eagerly co-operate with the king. His rule will promote the welfare of the whole society and his own happiness will be guaranteed by the wholesome discharge of the royal duty. Oh prince, the life of the whole society depends upon paddy. It also depends upon water. Facilities for agriculture and irrigation

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

form the foundation of the welfare of the state. Nevertheless, these two are not so important for maintaining the happy life of the society. The main factor on which the life of the society rests is the king who rules over the land. One who drives the chariot must carefully choose his path. The road must be firm and even. Without carefully choosing the path, if the charioteer drives the chariot on an uneven and unfit path, the chariot would be upset and broken and charioteer himself will be thrown down injured. Similarly, if the king rules over the country, without swerving from the right path, contributing to the happiness of the people, his reign will last long. Otherwise, complete ruin will be the fate of both the country as well as himself. The king himself must base his reign on wisdom and love. Even when he is to deal with his enemy, he must wait for the proper opportunity. The king must examine carefully all the peaceful methods of winning over him without resorting to violence. Only then, his reign will be a great success. Oh prince, you, by nature, avoid the evil and choose the good. Deceit and untruth will destory the glory of the king. Hence, firmly maintain truth. Select as your counsellors learned men who are expert in the various branches of knowledge. Always have them as your advisers and friends. Maintain the machinery of the state pure and benevolent to the society. If you carefully maintain these principles, the king of the neighbouring lands will consider it a privilege to be your vasals and gladly accept your suzerainty."

Next the prince Sudanjana, the son of the Queen Guṇamālā is made heir apparent and the privilege of succeeding Sachinda who is to be the ruling sovereign-immediate. Next, the king appointed Govinda, the son of Lakṣaṇa as the next heir, second in succession to the ruling prince Sachinda. The king Jīvaka after appointing Sudanjana as heir apperent advised him to remember his duty befitting his status saying "You must always be generous and sympathetic to the people at large". The son of Nandatta is raised to the status of a Provincial ruler. After settling all these, he finally celebrated the coronation of his son

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Sachinda who thereafter became the sovereign of the land. His other sons were given lands and wealth for their enjoyment, and they were made provincial Governors. They were also given a number of elephants, horses and chariots for their use. The sons of his friends qualified by their scholarship and wisdom were appointed as counsellors to his son Sachinda. Just as his friends faithfully and loyally served him, he hoped that the sons of them would be rendering the same service to the new king Sachinda. After settling these affairs of the State and finishing the ceremony of coronation, the king went into his chamber with firm resolution to put an end to his domestic happiness. The queens experienced their right eyes winking which is not happy sign.

Section XXI

Revealing his decision to adopt asceticism

The king Jivakā went up to his chamber in the royal palace. Then he ordered his servant to bring his queens to him who were completely immersed in royal prosperity and wealth. The servant hurried to the ladies' chamber to communicate to them the king's order. At that time the queens' chamber was fully decorated with garlands of flowers, pearls and precious stones. They were all resting in soft cushion chairs. The youth servant communicated the king's command to them. "It is the desire of the king that you all appear before him immediately" so saying he bowed before them respectfully. They all followed the servant to the royal hall. They saluted the king bowing at his feet. Then the king addressed these ladies as follows ;—

"Evidently, your mind will be thinking of the various objects. Concentrate your mind and carefully listen to what I am going to say." These words uttered by the king with all seriousness afflicted the queens with sorrow. They easily guessed what the king was going to do. Thus reading his desire for renunciation, the queens were struck with grief. The lustre of their face disappeared. The beauty of their form deserted them. They were all shrunk like a garland at the touch of fire." The king continued addressing them :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"Beautiful ladies, carefully remember this. Rare chank shell with right rings will be born only in sea. It will never appear in a petty tank. Similarly generously offering gifts and the noble qualities of Tapas and spiritual discipline when carefully examined are rare qualities found only in noble persons. It may not be present in the impoverished ones living in want and misery. Carefully attend to what I say. Diamonds cannot be discovered any where except in hill side. The water lily cannot flower except in a tank. Similarly, an hospitable quality of sharing one's food with the deserving ones such quality will be found only in noble souls. Ordinary people in their poor circumstances certainly cannot have the privilege of offering in plenty like the generous offerings of the queens in the royal household. Still each one according to his own circumstances can offer one's mite.

Though, at the time of offering, the gift is merely an insignificant mite, still when accumulated, it will become as huge as a big mountain. Removing the suffering of persons in want and appeasing their hunger by feeding them well, will serve as a ladder leading to the happiness of heaven. Protecting the animals in suffering, abstaining from drinking honey and eating meat will certainly bring and place at his feet both this world as well as the world above. I need not say anything more. Kindness to animals and abstaining from eating meat form the most improtant ideal of conduct. There are no other moral principles worth mentioning. According to your religion of Ahimsā, you have to adopt this principle of Ahimsā or Universal love. Therefore it is certain that the world here and world hereafter, will of their own accord fall at your feet. Persons who give up intoxicating drink thus preserve their moral nature without corruption and will be born as kings in this world. They will reign over their State with justice. Realise the happy fruit of a good conduct. The misers who never offered food to the needy, the poor, shall experience the pangs of poverty and misery. They will cover their nakedness with dirty torn cloth stitched together from small pieces. They will go about begging for their food, carrying a mud pot in their hands. They will stand at the door

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of the rich begging for a little food to appease their hunger. If the stag in a forest is pursued by a hunter, it could run fast and escape from the hunter. But for man, there is no chance of escaping when pursued by death. Even a bird caught in snare, has a chance of escaping by good fortune. Similarly we also by the fortune and good life, may escape from the jaws of death. Do not go under the impression that these words describing Dharma are of meaningless words uttered by the learned fool.

"Its nature and worth, you have to realise by carefully studying the nature of the world at large. Human body is subjected to birth and death, growth and decay. The moon in the sky by its own nature of complete disappearance and full appearance, gradual decay and gradual growth proclaims to the ignorant the true nature of life. Even after watching the changes in the moon which proclaims the truth, there are persons who hear good advice and yet do not care for them. The words enter in their ears and come out without touching their heart. That is certainly the mischief of evil, the fruit of their misfortune. In the beginning of life, the fertilised ovem in the mother's womb after full growth comes out into the world. After birth, it grows with some good fortune as a happy individual. Intelligent and wise and devoted to virtue, he will walk the path of good and reach the goal of life which is eternal bliss resulting from spiritual perfection. If unfortunately, persons born into this world are not wise enough to walk the path of virtue, they will be forsaken by good destiny. The result may be innumerable suffering and pain. They will have to begin their career once again in this world starting life in the same filthy surrounding and environment.

"The noble ideal of Dharma which I thus described to you will not only result in spiritual liberation or Moksa but may also produce prosperity and happiness in this world as well as in Svarga. Hence, you must never forget Dharma. In this world, their is no method of controlling poisonous snakes except by magic wand of Mantra and medicinal herbs. Similarly, if a

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

man without natural beauty and attraction can never think of acquiring a beautiful maid as his wife.

"You beautiful ladies, you must have lived in the past in noble life. It is because of that good life in the past, you are now by my side enjoying the royal happiness. This, your happy inheritance, is but the result of inumerable fruits of past good fortune. I will bet if this privelege could be obtained otherwise. What I described is the true nature of our body. It is but a collection of flesh, blood and fat all kept together by the tight covering of skin. This is the true and faithful description of our body. Birth inevitably brings in its turn death. The moment we are born, we are destined to face death. Hence, let us make up our mind; let us realise the truth; and let us follow the light of wisdom. If we do not follow the path of truth and goodness, how are we to save ourselves ? Ladies, remember this. Youth and beauty will disappear. Your dark and beautiful hair on head would become white. On account of old age, the organs of the body will lose their form. Before we lose the form and beauty of the body due to old age, take care to renounce the world and pursue the path of asceticism. We see in this world men born in plenty and prosperity and had the privilege of eating the rich food as their dinner. On account of their misfortune, you saw their wealth disappeared and they became beggers. There I have no attachment to that prosperity, I detest even my royal glory. I will cast away all these as worthless trash and pursue and adopt the life of an ascetic."

Section XXII

Wailing in Queens' Chamber.

"Oh Beautiful Ladies, Heretofore we had been completely submerged in domestic happiness. After listening to the wise words describing the nature of Dhara, we have severed our connection with that domestic life." Hearing these words of Jivaka, the queens began to shed tears. The tears so shed by them flowed down their cheeks collecting in their chest and overflowing, fell on the ground. Then the ladies shedding their tears addressed as follows ;-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Addressing the fingers of his hand, they said; "You tender fingers, out of love, played with our breast; but now stand aloof as completely alien. You are on the side of the king completely rejecting us. Is this proper for you ? The king who enjoyed our company by embracing us has left us severely alone now. Your powerful hands used often when embraced, now stand aloof sharing the indifference of the king. Is it proper for you to deceive us like this ?" Then the king's chest is addressed "Oh Strong powerful royal chest, you are daily on contact with our own breasts when he embraced us. Your soul was friendly with us. Now you have forgotten that friendship. You treat us as strangers. Please tell us whether this conduct of yours is good." Then the king's garland is addressed. "You beautiful garlands of flowers, when the king embraced us, you happened to be in touch with us causing us immense happiness. But now you are also deserting us with the king." Then the king's tongue is addressed. "Oh Royal tongue, you once praised us calling thus 'the beauty incarnate, Oh swan, Oh peacock, Oh sweet Musicial Instrument, Oh Ambrosia honey etc.' Now like the king, you are unkind to us and dare to despise us. What mistake have you detected in us thus causing us ill ? If you do not answer us frankly, you will be condemned for your dual and inconsistent behaviour." Then the eyes are addressed. "Oh Royal eyes, whenever you glanced at us, there was immense happiness to us. You also shared that happiness on your part. Forgetting all these now, you are behaving cruelly and causing us unbearable pain. Tell us how we are faulty to deserve this treatment." Then the tuft of hair is addressed. "Oh Beautiful dark hair of the king's head, whenever the king fell flat on the ground in devotional worship, you also down from the ground, watched us in happy enjoyment. Now you see our suffering in intense grief. How can we take part in the devotional worship of the Lord of Universal Love since you keep unconcerned in our grief."

Then the king realises his situation clearly. His former nature is completely changed; so also the whole Nature around him. The milk in the milky ocean is changed into poison. The sun instead

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of shedding light is shedding darkness swallowing completely the world. The moon usually cool is now shedding only rays of heat. In such a confused environment, the king addressed the queens: "Oh Ladies, we cannot maintain our life in peace. How can I live as usual. Please answer me."

Then the queens addressed the king whose attention is drawn to his former relations individually to each queen. "Once you are caught hold of by the beauty of Gandharvadatta. At first you are confused whether she was the daughter of Svargaloka or Vidyādhara maid. Finally you decided that she was of the latter kind. Then you married her by winning her in music test. Now when you are deserting her, what is exactly your relation to this beautiful lady. When Gunamalā was pursued by a rogue elephant, you intervened and saved her by controlling the elephant and making it tame. Out of gratitude, she offered her hand to you in marriage which you accepted and enjoyed a happy wedded life with her. What is that evil done by her now to justify your decision to desert her ? When Padma was beaten by a poisonous snake and when she was in a dead-bed, you were kind enough to save her from the effect of poison. When she was completely cured, you were called to accept her as your wife. Now your decision to desert her clearly indicates that she was not completely cured of that poison. When you met Ksewasri, you could not bear the shower of arrows from her lustrous eyes. You succumbed to this onslaught. You eagerly desired her hand in marriage. You are fortunate in obtaining her consent. Your desire is satisfied and you are happy. Now why are you leaving her ? What has happened to your former desire."

Next Jivaka was reminded his marriage with Kanakamālā. "In order to win Kanakamālā you exhibited your skill in archery. Then you praised her beauty in various ways, after marriage. After enjoying happiness in her company, is it Dharma now to renounce her ? When you met Vimala in the street of the City of Rājapura, you are caught in her snare. What has happened to those eyes which caught you as a victim ? Have they lost their lust ? Are they now devoid of the magic attraction which you once

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

experienced ? Oh king, when Suramanjari lived in her home carefully guarded by a body-guard of women –young and old – you cleverly got admitted there disguised as an old brahmin. Staying there alone, you won her heart by your music. She is surrendered to you. Then you resumed your own youthful royal form and accepted her as your queen. How can you justify now when you desert her ? Oh King, finally, you married Laksna. You gladly drunk the honey which she offered and made her happy in your embrace. Now she trembles at the thought of losing you. Is it proper for you to go away leaving her in such distress?"

Wailing in Royal Palace.

Section XXIII

The wailing of the Queens in grief was so pathetic that even stones and trees were moved in sympathy. They cast away flowers and ornaments. They removed and threw away the golden bangles. Devoid of ornaments and flowers, they resembled empty creepers. Hearing this sorrowful cry, ladies from the different parts of the city gathered in the palace. Some of these ladies would sigh in sorrow, some would cry, and some would bow in worship. On account of this confused sound in the palace, it resembled the sound caused by the waves in the sea. On account of this confusion, the usual musical sound in the palace completely ceased. The violin did not sound. The drum was not beaten. The cymbals were not sounding. There was no music from the flute. All the musical instruments remained soundless. There was grim silence in the palace atmosphere. The royal elephants and horses were also affected by this general sorrow. They did not accept their usual feed. The golden ornaments and shining jewels were found scattered on the palace ground. The palace ground strewn with such scattered precious stones and pearls together with the crowd of beautiful ladies gathered at the gate of the palace, resembled the advent of Svarga here in this world. Even the Devas in Svarga were affected by this general sorrow. The confused noise so created in the City resembled with that of the churning the milky ocean.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The whole city wailing.

Section XXIV :

The various kitchens in the city remained silent and lost their usual delicios flavour as there was no cooking. The dinner rooms in the residential palace were also dvoid of their usual activity. Every place in the city appeared like a lifeless corpse. The wide streets in the City were usually busy while the householders were offered rich food to those persons who stood in the road expecting a quantum of food; now, there was no such sight of giving and taking. On account of the universal sorrow created by the king's renunciation, there was nobody in the street expecting food and there was nobody to offer. All the streets in the City remained deserted. Young women who were in the habit of offering sweet drink to their beloved, would not even touch the cup now. The ladies did not want ornaments and garlands nor did they like scents and sandal pastes. These things rejected by them lost their usual beauty and worth. Nowhere in the City was a dance, music or singing. The whole city was silent, as if in sound sleep. It resembled a sea the surface of which knew no waves and where there was perfect calm. The City which lost its usual charm and beauty thus proclaimed eloquently the nature of the world as a whole where nothing is permanent and everything is ephemeral. The ladies did not use the incense to scent their dresses. There was no smoke from the fire kindled in yāga. Nobody used medicinal smoke to preserve their clothes. All these completely disappeared from the City. There was no trace of them just like the absence of fame in the life of a miser. No sound was coming out from the place where beautiful bangles are made by cutting chank-shells. No sound from the laughter of children playing. No trumpet of the elephants. No blowing of chank shells. All these disappeared from the city. Garlands, scents, sandal, ornaments and various spices were all left severely alone as nobdy wanted them. They remained wasted without being desired by any body, just like the words of the ignorant fool uncared for.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The king decided to renounce the world. All the people in the city caught that spirit of renunciation. They did not feel any attraction towards things which they usually desire and enjoy. People felt that the spirit of renunciation avoid the very touch of wealth. Because, they realised that the enjoyment of worldly pleasures would create in them a dilusion diverting them from the right road leading to eternal bliss. In the city full of precious and valuable things would naturally appear to them as a worthless desert containing nothing worthy of enjoyment. Therefore, the people in the city as well as in the country in order to follow the king and adopt ascetic life after giving away all their wealth to their sons, gathered before the wise king ready to follow him.

Section XXV

Emphasising the greatness of Renunciation.

Because the queens were crying, their faces were swollen and their eyes became red. They were addressed by the king as follows. "If we weigh in a scale, the world on one side and the Tapas on another side, the world will not have the weight even to the extent of a mustard seed. After realising the weight of each, we must certainly choose spiritual discipline and penance. If we firmly hold to this, the goddess of wealth will never leave us. But if we have attachment to the worldly prosperity, the goddess of wealth will have no attachment to us. Hence, get rid of the attachment to the worldly prosperity. Choose the path of renunciation and decide to perform penance. My body is destined to be carried to cremation ground from here. After the priests perform the obsequies by offering a balk of cooked rice and pouring water, the body will be placed on the pyer, and it will be soon set on fire. That is the end of all human beings. That is the worth of wealth and prosperity in the world. You are shedding tears because you are losing such a worthless object. Give up your grief. Think of this noble ideal. It will certainly be of benefit to your spiritual welfare. Ladies with beautiful and golden form of bodies, realise this truth, A lion which is expecting an elephant to feed on, will not care to touch a mouse even if it is

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

playing before its very eyes. Similarly, the wise men whose ideal in life is to enjoy eternal bliss by achieving spiritual liberation, will never reconcile themselves to live on the poison of wealth and prosperity, of this world. Realising the worthlessness of the worldly pleasures, men must carefully save for themselves as treasure of spiritual discipline. The wealth of gold and precious jewels which they carefully acquired and saved during their life-time, will not follow them after death. Naturally all their wealth and landed estate will treat them as undesirable aliens and desert them. They will become the property of some persons who by their conduct of spiritual discipline made themselves fully deserving to these wealth and prosperity."

The king out of love thus addressed his queens and tried to divert their attention towards the noble ideal. He further continued saying "He who desired their welfare wanted to save them from being submerged in the ocean of Samsāra of birth and death. They must also be saved from this misery. They must also have the privilege of enjoying the higher happiness resulting from spiritual discipline." This advice which he gave them out of love was loyally by the queens. They clearly realised that the worldly pleasures were but worthless trash. They made up their mind to achieve renunciation. They expressed their consent to the king and assured him that they would also follow him on the path of renunciation. "Oh Beautiful Ladies, if you have decided to cross the ocean of misery and if you really desire to reach that Eternal Bliss beyoud good and evil, accept now without hesitation the path of renunciation and follow me with full faith", so said the king to the queens.

On these words from the king, the ladies with one voice expressed emphatically as follows: "We have nothing here to give us happiness and we are ready to follow you in the path of renunciation. Oh king, but we have to make one last request. If by good fortune, we achieve spiritual discipline and reach that world of spiritual liberation which you are as your birthright going to inherit, let us have the privilege of following you with devotion. We hope you will not reject us there also in contempt."

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Section XXVI.

The queens' renunciation.

The king took the ladies to the holy Āśrama and left them under the protection of his mother Vijayamādevi who was leading an ascetic life in that Āśrama. As soon as the queens entered the Āśrama, they of their own accord removed from their bodies all the ornaments and garlands. They resemble trees and creepers in blossom shedding all their flowers. They removed their costly saree and tied a coarse cotton cloth round their body. They have removed their lovely hair from their heads. Thus changing their appearance, they faithfully adopted the life of the ascetics in the Āśrama under the tutelage of the elders.

Section XXVII.

The Great Pilgrimage.

The queens who became female ascetics were thus left under the protection of Āśrama. The king generously distributed his wealth to the poor and the needy. Lands were distributed among the landless. Those who needed cloth to cover themselves were given freely clothes. After generously distributing lands, gold and clothes, the king Jīvaka himself went to the Aśrama and bowed before his mother who is leading an ascetic life in the Āśrama and took leave of her. When he left the City on pilgrimage, he was carried in a palanquin by the Devas. Thus he started his pilgrimage to visit and worship at Samavasarana, the divine audience Hall of the Lord Mahāvīra.

Section XXVIII.

Description of Samavasarana

When he was thus carried, the tuned instrument Viṅā produced music. Flutepoured forth different tunes. Drums produced great sounds. Cymbals also sounded. Thus various musical sounds filled the air. Samavasaraṅa appeared in its glory between earth below and the heaven above. The whole scene resembled the box in which is deposited a rare jewel. Thus appeared the temple

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Samavasaraṅa, the abode of the Lord, It was witnessed by both men and Devas who all prayed in devotion. They all sang in praise of the Lord. They all danced in devotion and joy. To gether with the sound produced by various musical instruments, it resembled the sea in rapturous roar. They all approached the abode of the Lord where the avenue trees on either side were with full of sweet smelling flowers and humming bees collecting sweet honey from them. It was surrounded by moat full of water on all sides. The temple was surrounded by huge walls on all sides. There were flag-posts all round. Flags were flying on the top of these posts. There was a belt of land all around full of flowering creepers. Next to this belt of creepers was there a beautiful park or Udyāna full of trees with flowers. The various Stūpas and the towers produced an impression that the golden mountains (Meru) are gathered togethar there. Prior to the gateway, there was garden of Kalpa flowers. Smoke was coming out of burning incense thus obstructing the sun's light.

With such environment, the king Jīvaka entered the temple with devotion. There he perceived a brilliant figure of the Lord shedding light like the rising sun. His body proclaimed the glory of one who destroyed both the Karmas, good and bad. His hands expressed the Lord's mercy and protection to all living beings. The Lord's face resemble the shining sun. The faces of the various Devas assembled there for worship resembled lotus flowers in blossom. The king Jivaka because of his intense devotion and faith to the Lord had both his Karmas destroyed. His whole body quivered with thrill of joy. His eyes shed tears of happiness. Thus singing the glory of the Lord, he went round the temple in pious devotion. When he was walking round the temple, the shining garments of pearls, diamond necklace and sweet smelling garlands of flowers which all he wore remained as usual in his body. On either side of the Lord, there stood Devas waving Cāmaras. Above his figure, there was the triple umbrella. Above all these, spread the branches of the sacred Aṣoka tree, the leaves and flowers of which do not wither or fade away. Under the shade of this sacred Aṣoka tree, the Lord was resting. The shade was

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

offering the panacea to cure all the ills of life of birth and death. It was the place where ambrosia of Dharma was offered. In the court yard of the temple, there was loud proclamation advising the people to accept the Dharma and achieve immortality. While the Devas were showering flowers over the body of the Lord, the king approached the feet of the Lord to worship with the object of destroying Saṃsāra, birth and death.

Then the king was introduced from the following words: "Oh Lord ! Here is a son of Kuru dynasty. His name is Jīvaka. He belongs to Kāśyapa gotra". When he was thus introduced by the divine ushers, the king worshipped at the feet of the Lord and sang in His praise. After praising the Lord, the king declared publicly that he would renounce the world. When the Lord heard this declaration of the king, He proclaimed: "Your heart is firmly fiixed on renunciation. Renunciation is said to be the vital ideal for you".

Chapter XXIX

Jivaka's renunciation.

"Oh king of the wise Saints, the lump of food kept into the mouth of an elephant is gradually digested and finally disappears. Similarly life characterised by birth and death is gradually nibbled and digested by death. After carefully examining the nature of life, I have a feeling of disgust and pain. Those who have not the misfortune to revel in this misery of life obviously achieve their safety by worshipping your feet which rest on the sacred lotus. How else could they have escaped from this misery of life ? Oh Saviour of the world, Oh Lord sitting under the sacred Asoka tree ! Those who do not praise your noble qualities daily will not be pleased by this world as a noble king. Those who do not adorn their head with the flowers of your feet will not be worshipped by the Devas. Therefore, I will sing thy praise and will worship at thy feet.

'Oh Lord seated on the lions' throne and worshipped by the three worlds ! Those who do not take refuge in thee will be pushed by evil destiny into the ocean of misery and will drift

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

hither and thither like the spindle in the weaver's loom. On Lord ! Thou art the full moon in the midst of stars. The three worlds together sing thy praise. Thow art the Lord who revealed the Dharma which is dreaded by both the destinies, good and evil. Those who lived according to your Dharma are the ever shining light whose flame is fed by the ghee from the unending ocean of ghee. Oh Lord, Our Father sitting on the throne of lions ! I fell into the ocean of life and death. After great struggle, I reached Thy feet. It is good to thee to save me from this miserable life", so singing the praise of the Lord, the king jivaka fell straight at the feet of the Lord and worshipped him when the ornaments which he wore were touching the ground. Thus with devotion, he sang the praise of the Lord who out of Universal love saves all the living being in the world. He being the Saviour of the world, His brilliant wheel of Dharma completely destroys hunger, enmity, disease and other evils from the world. He praised the Lord of infinite qualities who remained the limit of infinite wisdom. The Lord who is the ocean of infinite cure and who is identical with infinite bliss was thus worshipped and praised by Jīvaka.

Then he got up with the resolution of complete renunciation. He went from there to Sudharma, the wise Ganadara, the chief of the Sangha. Then, the temple of the Omnicient Lord was full of devotees, Devas and their wives. Before leaving the temple, he went in devotion to the place where the wise saints are all assembled. The king carefully weighed the comparative merits of the life in the world and life after renunciation. He clearly realised that life in this world has not even an iota of value; hence it must be given up; life of renunciation must be adopted. With this firm decision, he removed all the ornaments and garlands from his body. Then he resembled the god of Love with the intrinsic beauty unadorned by external ornaments. Then he removed the clothes which he was wearing. When the cloth was thus removed from his body, his body shone with the congenital brilliance like the rising sun when the ornaments and clothes whose weight he was all the while bearing, were removed.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

He heaved a sigh of relief now. His body shone with the light of joy which he experienced on account of complete renunciation. Then he removed the beautiful hairs in his head like a lion getting rid of its mane. The hair thus removed was received in a silver plate. The plate with the king's hair was carried by his Deva friend Sudanjana to the Milky ocean where he dropped the plate.

On account of the joy of renunciation, the king was praising the glory of the Lord. The words of his devotional songs poured forth from his mouth were like the brilliant pieces of diamonds. At that moment, Deva Sudanjana addressed the people assembled there. "Listen to this devotional songs. You will be born as Devas and enjoy the svarga happiness". Then Sudanjana returned to his home. The removal of ornaments from the king Jīvaka's body was but a symbol of complete renunciation. His spirit completely got rid of its soiled covering like a snake slipping out of its own skin. Jīvaka's mind was then filled with scriptural knowledge. In this form of a perfect ascetic, he went back to the temple of Lord Mahāvīra Vardhamāna to worship at his feet. After worshipping him, he joined the group of wise saints.

Section XXX

Arrival of Srenika.

Just as darkness vanishes at the rise of the sun, evils of the two kinds disappear when the feet of the Lord Mahāvira shed its light of love. In those happy days, there occurred an incident which I am going to describe. There was a country called Magadha which was full of rich and fertile fields where sugarcane and paddy were grown extensively. The capital city of that country was called Rājagraha. This city had wide streets with palatial buildings on either side. From the top of these buildings, flags were flying adding to the beauty of the city. The ruler of the land who lived in that city was called Srenika. He proclaimed throughout the city that he would go to worship the Lord Mahāvira who arrived at the precincts of the city in Samavasarana.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

After thus announcing his intention, the king Srenika cleaned his face and teeth with hot water and had sweet smelling spices in his mouth who dressed himself in white silk and put on various ornaments and garlands befitting his royal status and got on his royal elephant ealled Ahirāvana. When he thus started his pilgrimage to Samavasarana with the object of worshipping the feet of the Lord Vardhamāna Mahāvira, he was followed by a large number of citizens carrying various objects to be used in worship like some cups of gold, Jewels, cups made of sandal wood and ivory containing things to be offered at the worship of the Lord's feet. A large group of people carrying flags, some carrying peacock feathers with their beautiful hair in their heads with regiments of soldiers carrying their distinctive weapons, created a sublime scene like the ocean of milk moving grandly on the surface of the earth. With this paraphernelia, the king Srenika with the avowed object of destroying both the Karmas decided to enjoy the resultant happiness. He then proclaimed to all the excellent Dharma revealed by the Lord. Then king Srenika offered flowers and worshipped at the feet of the Lord praising His glory. The rays of light proceeding from the beautiful feet of the Lord completely submerged the brilliance of the Devas assembled there.

Then Srenika noticed the group of holy saints gathered in a corner. In their midst, the king observed a person whose form exhibited a sublime grandeur of Tapas or spiritual discipline. The king Srenika was not able to identify him. He was in perplexity whether he was one of the Devas or the manifestation of the shining light emanating from the Lord Himself. Then Srenika approached Sudharma Ganadhara and saluted him with joined hands. Then he requested Ganadhara to inform him as to the identity of that holy saint whose form he noticed. Then Sudharma Ganadhara, the chief of the holy saints told srenika as follows :—"Your conjecture is baseless because neither Devas nor the inhabitants of Bhogabhumi are able to adopt the life of renunciation. This is clear from the holy scripture." To this Srenika answered : "The person standing to your left has a shining body similar to that of the lotus-eyed Indra. The brilliance

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of his form proclaims its divine nature. That is why I have said so." Then he addrssed Srenika in the following words: "This person with beautiful form is the famous Jīvaka Svāmi. His awe inspiring glory is unique in the world. The beauty and brilliance of his form is really divine as you said. Even his familiar friends, if they see him now, cannot recognise him. Hence it is not easy to recognise him at present".

Section XXXI

Srenika's request.

Hearing these words of Sudharma, King Srenika requested him to give a clear account of Jīvaka's previous life and his present renunciation leading to Tapas. The høly saints assembled there eager to listen to this account, waited there in rapt attention. The holy saint Sudharma like a brilliant cloud carried the waves from the sea of infinite knowledge, poured down the rain of Dharma, and he described the life history of Jīvaka. The world drank the elixir of Dharma so showered by the holy saints. When Sudharma narrated the story of Jīvaka thus, the king Srenika and the other holy śaints assembled there, praised the glory of the Lord and prayed that they may also have the same blessing which Jīvaka enjoyed in his life. Thus Sudharma narrated the history of Jīvaka's life.

Section XXXII.

Attaining of infinite knowledge.

Let me describe in detail how Jīvaka performed Tapas on the hill top and how he attained spiritual liberation or Moksha. I will also describe in detail how the ladies of the royal household and Nandattā together with his friends reached Svarga. The king Jivaka from whose lips no defective words were ever uttered climbed up the hill full of fruit trees and reached the top where he began austere tapas to the consternation and sorrow of all. While he was thus engaged in yogic concentration, he aimed his spiritual weapon of pure Dhyana at the group of eight evil karmas with the object of destroying them. Then his body shone with

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the rays of light like the rising sun of golden colour. The various hill streams running down from the top were sounding from one side of the hill. This sound created by the hill stream appeared to proclaim to the world thus : "Here, on the hill top stands in yogic concentration a holy saint. You are all welcome here to listen to Dharma which would be proclaimed by him." On another side of the hill, the watchmen in order to drive away the elephants from the millet fields, threw stones at them. These stones on account of brilliancy appeared like stars in the sky. On another side of the hill, elephants after eating the creepers and of the foliage of the fruit trees at the hill side and drinking the sweet water of the hill stream, happily roamed about with their mates. On another side of the hill Kinnaras, the divine musicians, were singing devotional songs. Hearing this sweet music, snakes, tigers and young elephant calves were all assembled there in fearless mood. The saint's presence there created an atmosphere of peace and harmony where no hatred or fear could thrive. On another side, there were monkeys which ate the fruits from the fruit trees and enjoyed sporting in hill streams. The holy saint Jivaka got upon the elephant Jnāna thus after four months of Yogic Dhyāna.

Thus the saint remained there absorbed in Yogic Dhyana uninfluenced by the changes in the environment. Seasons came and went but the saint Jivaka stood there firm without any change. Thus he remained throughout the six seasons, which climatic changes had very little effect on him. Thus he remained a whole year without taking any food. Then the ladies of the royal household and Nandatta and his friends thinking that it is time for the saint to accept food climbed up the hill with necessary food. Thereafter worshipping at the feet of the saint Jivaka, they offered him the various kinds of rich food which they brought. By waving his hand, he expressed his dislike to this rich food and rejected it. He accepted a small quantity of simple food just enough to keep life in body for some time. Thus he continued his Tapas which is the necessary condition for attaining spiritual liberation.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Then there is a regular war in the spiritual field. Enemies, the two karmas, are safely situated within their fortress. The self, the warrior, lays a seige round the powerful enemy fortress. His army consists of the following divisions; the right knowledge is its glorious chariot. The ideal of self realisation forms his cavarly. His mind fixed on the righteous path to which the spine is fixed forms its elephants. Love towards all living beings constitutes its infantry. Right conduct forms the main armoury protecting its body. The true categories of reality is its soul and shield. Equipped with such a powerful army, the self has surrounded the enemy fortress. From inside was heard the challenging war cry of the enemy.

The Karmas, the enemy within the fort, had also a large and powerful army. Its army ready to meet the spiritual forces of the self, consists of various divisions opposed to the spirit and constituted by animal instincts. Sleep is its elephant force. The animal-want, hunger, waiting to be satisfied with food, is its chariot. Forgetfulness constitutes its powerful cavalry. Its infantry consists of various diseases caused by 3 humours of the body : air, bile and phlegm. Followed by such a powerful army, the enemy rushed out in sortie through the gate of evil thought and engaged the beseiging forces in a fierce battle. In this battle field, the following casualities occurred in the enemy force. Seven leaders run away from the battle field in terror. Sixteen of them fought ldly and lost their life. Eight of them were pushed down and trampled by the elephant righteousness. Then the following fell down howling when attacked by the spiritual forces. These are the natural sex instinct, the femanine sex instinct and the six kinds of hedonic experiences. These fell dead when attacked by the wheel of chakra-the merciful thought.

The seven officers of the enemy army are the following: Mithyātva, Samyak Mithyātva, Samyaktva, Anantānubandhi Krodha, Anantānubandhi Māna, Anantānubandhi Māyā and Anantānubandhi Lobha. These may be expressed as follows : Faith, Mixed Faith right and wrong, Right Faith, the emotion of anger resulting in infinite bondage, the emotion of pride resulting in

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

infinite bondage, the emotion of deceitfulness resulting in infinite bondage and the emotion of greed resulting in infinite bondage. These seven are the Karmic conditions producing Karmic bondage which curb the intrinsic freedom and lustre of the true self and pushes it into the sea of Samssara

The sixteen Karmīc conditions which disfigure the nature of the soul are :

The two Gatis—the Karma which leads to hell and the Karma which leads to the animal world ;

The four Jātis—one-sensed organisms, two-sensed organisms-three sensed organisms and four-sensed organisms which depend the corresponding karmic conditions which build up the respective organic bodies and their life ;

The two Ānupurvis—which are Ānupurvic condition leading to hell and leading to sub-human creation ;

Ātāpanmakarma—the Karma that determines the animal heat of the body ;

Udyotanāmakarma - the karma that determines the shining nature of the organic body ;

Sthāvaranāma-karma—the karma which refers to the karmic conditions which determine the stationery nature of botanical organisms like the trees and plants ;

Sukkshmanāmakarma-which refers to the nature of microscopic organisms having only one sense, the sense of touch; and

Sādhāraṇaśarīranāmakarma-the karma which refers to a common body connected with a number of jīvas.

The three unconcious physical states relating to sleep are : Nidrānidrā, deep sleep; Pracaiāpracalā, the psycho-physical disturbance during deep sleep ; and the third styanā Griddhi, the dream experiences during sleep.

The eight enemy officers referred to are : 1 / apratyākhyānā krodha, 2/ apratyākhāna mana 3/ apratyākhyān māyā 4/ apratyākhāna lobha 5/ pratyākhyāna krodha 6/ pratyākyāna māna 7/ pra-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

tyākhyāna māyā and 8/ pratyākyāna lobah. Apravākhyāna implies that which cannot be controlled and inhibited. The gross emotions of anger, pride, deceitfulness and greed, whent hey become intense and dominant over the self, they become respectively uncontrolled anger, uncontrolled pride, uncontrolled deceit and uncontrolled greed. When these emotions are amenable to control by the self, they are respectively called controlled anger, controlled pride, controlled deceitfulness and controlled greed. The Karmic conditions that determine the sex nature of the organic body are called Vedanāma Karma. Here the Vedanāma Karmas are considered the natural sex nature and female sex nature. The six hedonic experiences are Hāsya-laughter; Rati-attraction: Arati-aversion, shoka-grief ; Bhaya-fear and Jugupsā-disgust. All these that are destroyed in the battle field are the sons and ministers of the enemy king Mohaniya Karma or the Delusion. Then this enemy king bent the bow of PURUṢAVEDA—the male sex instinct and sent arrows of desire and delusion. These arrows showered by the enemy are made effectless by the shield, the thought of the impurity of the body. This realisation of the impurity of the body resulted in the feeling of complete aversion to this body which is distinct and different from the pure self. This discerning knowledge is the sword in the hands of the self who kills the enemy in the field. Then the five senses in the enemys army are attacked. The senses were cut to pieces and cast away. Then like a powerful doctor who defeats the various diseases of the body, the 3 humours of the body are next attacked After thus destroying all the enemy army completely, the spiritual warrior-self, next turned to the enemy-chief of the two fold karmas, good and evil. Even this enemy is defeated and killed in the battle-field Then the four mild natured warriors of the enemy force began to attack the self. These four are SANJULANA KRODHA, SANJULANA MĀNA, SANJULANA MĀYĀ and SAMJULANA LOBHA. These are respectively, emotions of anger, pride deceitfulness and greed, which one mild like a flickering flame can be blown out easily at any moment. Hence they are called SANJULANA anger etc These were destroyed by the hero-self, who sent arrows of concentration with

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

which these emotions are cut cut. After this, the sleep and psycho physical disturbances of the Pracalā began to attack the self. The hero-self, equipped with the weapon-complete absence of desire, turned to these two. These two also fell dead in the field.

Still another group of enemy kings joined together and attacked the self. These are connected with JNANA or knowledge, DARSHANA or perception and ANTARĀYA or interference. The self with the supreme weapon of SUKLA DHYĀNA-powerful and brilliant concentration, defeated these enemy forces. They were destroyed together with large forces of infantry. The anemy forces undermining the JÑĀNA are of five kinds; MATI JÑĀNAVARNĪYA, SRUTAJNĀNĀVARANĪYA, AVADHIJNĀNĀVARANĪYA, MANAHPARYAYJNĀ NAVARNĪA and KEVALA JNANĀVARANĪYA. MATIJNANA means ordinary knowledge through sense experience. The karma that obstructs this knowledge is called MATIJNĀNĀVARANĪYA. SRUTAJĀNA refers to the knowledge obtained by the study of the scriptures. The karma that obstructs this knowledge is called SRUTAJNANĀVARANĪYA. AVADHIJNĀNA means knowledge obtained through supersense perception, i.e. the knowledge of things in places beyond the range of the senses and all the events occurring beyond the present. The karma which obstrutucts this extra perceptual knowlege is called AVADHIJNĀNĀVARANIYA. MANAHPARYAYAJN ĀNA refers to the knowledge of the ideas and thoughts occurring in another person's mind. The karma that obstructs this knowledge of other's minds is called MA AHPARYAYAJNĀNĀVARANIYA. KEVALAJNĀNA is the knowledge par excellence. It is associated with supreme self. This has no limitation of time. Events in the past and present and the would-be-events in the future, are all simultaneously known to KEVALAJNĀNA. The karma that obstructs this supreme knowledge is callsd KEVALAJNĀNĀVARANĪYA.

The term DARSANA refers to perceptual experience which is of various kinds. CHAKṢHU DARSANA—visual perception; ACHAKSHU DARSANA—perception through the other senses and AVADHI DARSANA perception through the faculty of

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

extra sense experience. The simultaneous perception of all objects in reality without exception is KEVALDARSANA. The karmas obstructing these various perceptions are called respectively CHAKSHUDARSANĀVARANIYA. ACHAKSHUDA RSANĀVARANĪYA. AVADHIDARSANĀVARANĪYA and KEVALADARSANĀVARANĪYA. And lastly, the interfering karma are the following: DĀNĀNTARĀYA, LĀBHĀNTARĀYA, BHOGĀNTARĀYA, UPABHOGĀNTARAYA and VIRYĀNTARĀYA. The first DĀNĀNTARĀVA is interference with gift. LOBHĀNTARĀYA is the interference with gain. BHOGĀNTARĀYA is interference with enjoyment UPABHOGĀNTARĀYA is interference wīth objects contributing to enjoyment. VĪRYĀNTARĀYA is interference with power. The infantry of these forces is constituted by the five senses: visual, auditory, taste, smell and touch. All these hostile UPĀDHIS are destroyed by spiritual fire. Then the victorious self shone like the sun at the top of the world whose light covered the three worlds. Carrying the four flags of victory symbolising the 4 infinite qualities, the self assumed supreme sovereignty of the whole reality. The four infinite qualities are ANANTA JNĀNA-infinite knowledge; ANANTA DARSANA— infinite perception; ANANTA VĪRYA - infinite power and ANANTA SUKHA – infinite bliss. The pure self after completely destroying the various kārmic enemies comes out victorious from the battle-field endowed with the ābove four infinite qualities and assuming spiritual sovereignty.

When Jīvaka thus after destroying the various karmas and achieving the four infinite qualities, was shining with intrinsic spiritual lustre just then, the Devas mounted on their respective elephants, horses and other vehicles appeared there accompanied by celestial music. There they worshipped at his feet. The Vidyādhara kings carrying the garlands of Karpaga flowers also landed there in their aerial vehicles. Then the kings of the land also assembled there sprīnkling scented water and sandal drops. All began to worship at his feet. The human beings assembled there showered flowers. The Indra showered golden flowers all praising the glory of the divine nature.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Just then, the divine friend Sudarśana appeared there. There appeared all over his body the inumerable eyes with which he perceived the glory of the divine personalities. In an ecstacy of joy, he was singing and dancing before the divine feet of the Lord. Just then, there appeared a seat with Chāmaras waving on either side. Just over the seat, there appeared a miraculous umbrella symbolic of universal love protecting the whole world. In the case of one who destroyed all the karmas, there proceeds a miraculous fragrance from His person. From this sweet smell, we can easily recognise spiritual purity of the person. Do we not easily infer from the odour from the secretion of the elephant's cheek that it will de certainly a royal elephant. The musk-deer can be easily identified through the fragrant must it produces. Similarly, sweet smell proceeding from the body of a prefect person who destroyed all the Karmas will proclaim the happy message of Universal love.

The body of the person who has destroyed all the Karmas will shed its natural colour and will shine with the divine lustre, indicating the spiritual purity, Ordinary iron which is dark in colour when heated in fire loses its dark colour and shines with white lustre. We can easily infer from the shining of the body that it is the indicative of the spiritual purity and perfectness of the divine individual. This spiritual fragrance and glory as a centre surrounded by the natural fragrance proceeding from the flowers showered at His feet and the sprinkled scented water and the burning incense, filled the air around. In this atmosphere filled with fragrance, the Devas worshipped the divine feet. The Vidyadharas sang the praise of the Lord thus : Thou hast destroyed the karmas. Save us from the world of births." Thus they prayed at his feet having no other thought but this: "Let us all worship at the feet of the Lord who has destroyed and got rid of the four destructive Karmas and consequently hasattained the four infinite qualities and who knows at once all thing in reality as to the present and future." The four destructive Karmas are: Jnānavarniya, Darsanavaniya, Mohaṇiya and Antaraya. The resultant four infinite qualities are: Infinite knowledge, Infinite perception, Infinite power and Infinite bliss;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"Oh Lord, after destroying the karmas thou hast arisen like the rising sun shedding Thy rays over the three worlds. Let us all worship at Thy feet." In this praise of the Lord, the chief of the holy saints, the female ascetics who were once ladies of the royal household, all joined. Thus singing in chorus the glory of the Lord, they also cleared their souls of impurity. The ladies further sang the praise of the Lord, "Oh Lord, Thou hast revealed the truth to the world. Thou hast realised the infinite knowledge. Those that are in the midst of beasts are doubtless bound by the eight karmas. Their ignorance is fed by the false prophets. But we worship at Thy feet with this prayer that Thou should enlighten us about the nature of the two kinds of Karmas good and evil."

The Lord clearly explained the nature of evil karma. This evil baby is kept in the hands of the nurse "anger." It is suckled by desire. Thus the baby grows and moves about in the world of misery and pain consisting of four Gatis. "We will praise the Lord who revealed the truth. We will never think of praising the false prophets who spread erroneous doctrines."

Then he described the nature of the good karma or deed. This baby is suckled and nursed by the foster mother of Universal love. Being brought up in such happy circumstances, it will inherit the happiness of Indra in Svarga. This happy Truth without any intermixture of error and lie was revealed by the Lord. The ladies who listened to this happy message god rid of all fears and the misery of the cycle of birth and death.

The ladies further praised the Lord thus : "Oh Lord of Spiritual treasure : Thy feet made ourself shine. Thy feet imparted fragrance to the flower of our heart. Thou hast made us the temple of Dharma, Thus we owe our spiritual greatness to Thee."

Final release through annihilation.

"Like the rising sun at the dawn of the day which is able to destroy the dense darkness of the night, Thy feet on the lotus flower is the sword to destroy the enemy of the evil karma." Thus they praised the Lord Jivaka, The ladies with moonlight faces

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

thus praised the glorious qualities of the Lord. As a result of this devotional song, the evil Karmas without halting, took to their heels. After destroying the evil, their heart remained pure and spotless. They worshipped him with devotion praising His divine qualities. After singing His glory in chorus, they all appealed to Him thus: "Bless us with the light that would dispel the age-old darkness from us." Responding to their prayer, he spoke thus:

"Sense pleasure is a big cow. It remains in the cattle shed of the four Gatis. It is fed on the grass supplied by the enthusiasm of life in Samsāra. This cow offers us milk which is the nature of the misery. Hence give up attachment to that. Avoid desire for further pleasure. Take refuge by worshipping the feet-spotless and pure-of the Omnicient Lord. Those that worship at the feet of the Lord will be blessed with happiness and would finally enjoy the eternal bliss after final release. Your attachment to this cycle of birth sows the seed of the desire and reap the harvest of the beautiful sons and daughters augmenting the disease of birth series. Your body-flush covered with the skin will be the source of intense pain as if we are holding the scorpion in our own hand. If you desire to get rid of such a pain-producing-body, then take refuge at the feet of the Lord by worshipping Him.

"Everyone is interested in self preservation. With the same eagerness, if one serves the other life, then he would be born as an emperor reigning over the whole world. He may have a life of happiness. Even the rare spiritual status of Arahantahood would be within his reach. If instead of this life of Universal love, if one chooses the cruel life of inflicting pain on others, he would be kicked into the ocean of misery and would finally fall into the hell fire. To avoid such a catastrophe, if you take refuge in the Dharma revealed by the Lord, it will be such a rare fortune as recovering a rare jewel that was by mishap dropped into the Sea. He who stands in the shadow of wishful-tree never think of requesting help from others, similarly those who listen to the Dharma revealed by the Lord, will never think of desiring any other

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

wealth. Those who achieve self realisation with intrinsic lustre, shine like a piece of diamond. Those who by their previous good acts are born as Devas enjoying the Svarga happiness, are of the next class shining like gold. Those that are born as human beings belong to the next class of silver life. Sub-human beings–savages and animals—belong to the next lower class. They correspond to copper. The last class of lives, dark in nature, suffering in hell, may be said to belong to the iron class. I have described for your benefit the various classes of living beings according to their spiritual development and value. You may choose your ideal from among these."

Thus he went about from place to place preaching the Dharma of Universal love for the salvation of all living beings. Flowers were showered on him. There was a divine umbrella over His head which resembled the moon shedding cold rays of light. He himself was shining like a rising sun. He went about preaching the Dharma which was the ambrosia to the world. His mundane carrier was nearing completion. His spiritual heritage of immortality with Universal Bliss was awaiting for him. Then he conquered the remaining four good Karmas. When he thus got rid of all the karmas, his self attained its intrinsic purity by achieving complete spiritual liberation. The four remaining Karmas that are destroyed prior to spiritual release are Vedaniya, Āyus, Nāma and Gotra. These are called non-destructive karmas–Aghāti KARMAS. They do not in any way corrupt the nature of the self or ĀTMAN. The Vedaniya refers to the factor that determines the hedonic experience, happy or unhappy. Āyus refers to the factor that determines the life-duration. The Nāme Karma refers to the factors responsible for building up the body. Gotra refers to the factor that determines the social status of the family. When these are got rid off, there is no more birth, no more body and hence no more decay and death after a period. It represents the conquest of Samsāra; the series of births, which represent a victorious achievement of life's goal. This event of self-realisation is the occasion for the Devas to celebrate the glory of the perfected self. Hence, the Devas gathered in large numbers. The

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

air was full of divine music. The different Devas arrived in their respective vehicles. They showered divine flowers. They burnt incense and along with their paraphernalia worshipped him. The body that was cast behind, was the object of divine ceremony called PARINIRVANA KALYANA. All the Devas and the human beings took part in this. This holy ceremony consisted of placing the body in fire till it was completely consumed. After finishing this last divine ceremony, they dispersed and departed to their respective places.

While this last ceremony was conducted here on earth, the liberated self had the unique privilege of embracing the bride KEVALAJNĀNA, thus he was in infinite Bliss, in the topmost place of the heaven which is above all the liberated and perfected soul. Thus Jīvaka after achieving spiritual perfection and liberation, remained there without being subjected to such changes as birth, decay and death, the characteristics of the life below, in Sṁsāra.

The Ladies achieved spiritual greatness by observing the various discipline enjoined to the holy life. The ladies of the royal household did not spend their time in vain. They began to apply the Ahiṁsa Dharma in every respect of their life. They took care not to inflict any injury even to a tiny living being like the ant while walking or standing or sitting. They took special care not to injure any insects. They also engaged themselves in the austere life of Tapas. They engaged themselves in concentration about their ideal. They desired to transcend the feminine sex nature of the body. As a result of this spiritual discipline and concentrated attention on their goal, they all succeeded in leaving their body and the feminine sex behind. They were born as Indras in Svarga endowed with divine knowledge. Being born as Devas in Svarga, they spent their time enjoying the happiness of the Svarga household.

In the meanwhile, let us turn our attention to Nandatta and his friends. Nandatta and his friends were daily engaged in the practice of Tapas or spiritual discipline. With persistent effort, they succeeded in their Tapas. The five senses have been completely brought under control. These good beings were engaged in fasting, directing their attetion to the sixteen virtuous thoughts and wor-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

shipping at the Feet of the Lord. Even the small quantity of food which they were accepting till now to keep their life and body to gether, now they completely discarded. The Sixteen BHĀVANĀS or virtuous thoughts are the following:—

1. *DARSANA-VISUDDHI*—Purity of faith:--This refers to firm belief in the Mokṣa-mārga or the path to salvation, revealed by the Lord Arhat. This belief was not vitiated by doubt or intellectual wavering.

2. *VINAYA-SAMPANNATA*—Filled with desire to serve the elders:—This refers to readiness and humility to render all possible services to teachers and other elders.

3. *SILAVRATESU EANATICARA*—Not violating the ethical principles such as Ahiṁsā and the conditions of virtuous conduct by getting rid of all gross emotions like anger etc.

4. *ABHIKSHANA JNANOPAYOGA*—To be daily engaged in understanding the nature of Tattvas or the reals.

5. *SAMVEGA*–Intensive longing towards Dharma and its fruits.

6. *SAKTITYAGA*—Gift according to one's own ability. Conditioned by one's own ability, one should offer gift of food, protection and culture to deserving persons.

7. SAKTI TAPA—Spiritual discipline coditioned by one's own ability to bear:–This refers to the practice of austerity in order to control the senses and the mind. This depends upon the body's power of endurance. If it is carrried beyond this limit, it would amount to cruelty inflicted on self.

8. SĀDHU-SAMĀDHI–Restoring the peace of Mind of the Sādhus: When an ascetic is engaged in spiritual discipline, there may happen several impediments interfering with his Tapas. One must make effort to clear all the obstacles.

9. VAIYĀVRATYA—Sympathy and help to the right believers in religion : Persons with firm belief in the religion, when they are in difficulties, must be helped and their difficulties removed.

10. ARHADBHAKTI—Devotion to the Lord Arhat.

11. ĀCĀRYA-BHAKTI—Devotion to the Ācāryas or the religious teachers.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

12. BAHUSRUTA-BHAKTI – Devotion to the saints well placed in the scriptures.

13. PRAVACANA-BHAKTI - Devotion to the Word revealed by the lord.

14. ĀVASYAKA PARIHĀI – Strictly performing the six kinds of indispensable duties.

15. MĀRGA-PRABHĀVANĀ – To proclaim to the world the importance of Ahiṁsā Dharma revealed by the Lord Jina

16. PRAVACANA-VĀTSALATYAM - Filial affection towards those who are firmly established in Ahiṁsa Dharma.

These five princes after discarding food, completed their penance by continuing their Tapas on the hill top. When their allotted age was exhausted, they cast away their body and were born as Devas. Immediately after they were born as Devas, there appeared divine ladies ready to entertain them. The Devas with the company of these divine ladies enjoyed happiness in Svarga. These divine ladies adorned with beautiful ornaments sang the sweet celestial music and performed enchanting dances before the Devas. Thus were they immersed in their pleasure. After the entertainment of singing and dancing was over, these ladies began to throw flowers at the Devas. These flowers were like the arrows thrown by the God of Love, Kāma. This play with flowers aroused the feeling of love in the Devas. The Devas out of love embraced the divine ladies and experienced the culmination of Svarga happiness. Even though they are thus immersed in Svarga happiness, they have not altogether forgotten the divine Feet of the Lord.

The author having successfully finished this Kāvya "Chintāmaṇi", offers devotional music at the feet of the Lord commending his sovereignty over the three worlds symbolised by the triple umbrella. The ascetic prince born in Chola dynasty accepted the challenge of the scholars and composed this wonderful epic "Chintāmani" the greatness of which is such that

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

those who read it and those who hear it read, will have the good fortune to be born as Īndra and would finally achieve spiritual liberation and here in the world, will always enjoy the protection of Laksmi, the goddess of wealth. After finishing this work, the author went to his master and addressed him as follows. "You have approved and blessed my endeavour. You composed the beginning stanza and asked me to go on. According to your order I completed this work consisting of several thousands of stanzas. Each stanza is a flower with artistic beauty. These flowers of poetic beauty, I offer at the feet of the Lord whom I worship with devotion".

Thus ends the chapter on MOKSA (Muthiyalamabakam)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

SOURCES OF PAUMASIRICARIU

By

Dr. K. R. Chandra

Paumasiricariu, an Apabhraṁśa work composed by Dhāhila in c. 11th century A D. depicts the life of three consecutive births of Padmasri, a merchant's daughter. The author is silent about the sources of his work.

The commentaries on *Avasyaka* by Malayagiri and Haribhadrasuri give this story (here named as Sarvāngasundari) which is completely based on a narrative of the same name occurring in the *Avasyakacurni* of Jinadāsaganimahattara. In the *Samaraiccakaha*[1] (pp. 498515) also this story appears. There it differs a bit in details from that of *Avasyakacurni*. In all the works mentioned above as well as in the *Paumasiricariu* this story is narrated to explain the demerits and adverse results of deceitful behaviour (māyā). In the Avasyakacurni (I, p. 525) this story appears after that of Suka. In the same context there is mentioned the name of Suka in the *Visesavasyaka-bhasya* also :—

"Māyāe suyādiyā lobhammi ya luddhanamdavānīyayo
Soyammi Pupphasālāi loyane vanisuyāiyā // 3576 "

This bhāsya-gāthā thus does not refer to the story of Sarvāngasundari which is the subject of our present discussion. The *Avasyakacurni* is a commentary on the *Avasyakaniryukti* and in it the *Visesavasyaka bhasya* is also utilised. We can not say authentically whether the story of Sarvāngasundari was traditionally inherited by the author of Avasyakacurni or it was his own

1- *Jacopi's* edition.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

invention. But this much is certain that it is not referred to in the *Avasyakaniryukti* which simly has the following verse :—

'Rāgaddosakasāe ya imdiyāni ya pamcavi
Parisahe uvasagge namayāmtā namo'rihā–912

And the same verse is also found in the *Visesavasyakabhasya* (gatha No. 3527.).

So far we can come to the conclusion that this story was prevalent in the seventh century, the time of the author of *Avasyakacurni*.

In the three commentaries of *Avasyaka* referred to above this story appears in prose in the simple form, where as in the *Samaraiccakaha* the prose is interspersed with a few verses, and there it is narrated in charming way with some innovations and descriptions. The *Paumasiricariu* presents the story in the form of Carita in verses with every detail and it has all the poetic merits. There are charming descriptions of nature, human physiology and geographical places as well as delienation of emotions and sentiments along with the richness of figures of speech and metrical variety. Thus the *Paumasiricariu* is a literary piece of high standing.

In brief the story of *Paumasiricariu* is as follows :—

In the city of Vasantapura, ruled by king Jitasatru and queen Lilāvati, there lived a rich merchant Dhanasena who had with his wife Ratnāvali, two sons, Dhanadatta and Dhanāvaha and a daughter, Dhanasrī, was married to Sankara but she soon became a widow and developed longing for renouncement.

Once monk Dharmaghosa arrived there and Dhanasri wanted to become a nun. Her brothers did not like it. Hence on their suggestion she accepted the householder's vows and started spending money liberally on religious pursuits. At this her brothers wives Yasomati and Yasodā became hostile to her and started back-biting. Dhanasri thought of a plan to know whether her brothers also went the same way or they had sincere affection for her. She deceitfully charged her brothers' wives with bad character and theft respectively and thus caused antagonism between husbands and wives to her heart's content. When she

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

was convinced that her brothers subscribed to her views she brought about reconciliation between them with her cunningness.

In due course Dhanasri and her brothers renounced the world and after their death they were reborn as celestial beings.

Descending from there both the brothers took rebirth in the family of Aśokadatta and Candralekhā at Sāketa and were named as Samudradatta and *Rṣabhadatta*. Dhanasrī was reborn as Padmasrī at Haśtināpura, being the daughter of Saṅkha and Silāvati. Once Samudradatta saw her in garden at Hastināpura. Both of them were introduced by their friends priyaṅkarā and Vasantasenā resectively. At this they developed love for each other. Samudradatta then left for Sāketa. But both of them suffered the pangs of separation. At this their parents consented and they were married with great rejoicing. Samudradatta after some years went to his native place. Once he saw there a ruddy goose suffering from the separation of its mate, then he soon left for Hastināpura to take his wife along with him.

There it so happened on the first night that when he was waiting for his wife in the bed-chamber, a deity manoeuvred to make such a voice as if it was a paramour of Padmasri. Samudradatta at once left for Saketa and divorced her from there. He married again with Srimati and his younger brother with Kāntimati. Both of them were daughters of merchant Nanda of Kosalāpuri and in their previous birth they were wives of the brothers of Dhanaśri.

Padmaśri then took dīksā at the feet of Vimalsila and they in due course reached Sāketa. Padmasri went to the house of Kāntimati on her usual begging tour. Kāntimati was at that time threading a necklace. She left it before Padmasri and went inside to bring food. In the meanwhile the same deity entered the picture of a peacock lying there and swallowed that necklace in presence of Padmasri. When she left the house Kantimati found her necklace was missing. Soon there spread a rumour that nun Padmasri had stolen the neklace. In course of time Padmasri due to her penances attained omniscience. Thereupon the deity in the form of that peacock emitted the necklace from its belly in

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

presence of the family of Kāntimati. This event caused surprise and revived Faith in Padmasri. Finally Samudradatta and Rsabhadatta also renounced the world.

A study of the story reveals that the *Paumasiricariu* has some points common with the *Avasyakacurni*, some with the *Samaraiccakaha* and has some points different from both these works.

1. Some identical Characters, placcs and events.

A. Avasyakacurni and *Paumasiricariu* :—City of Vasantapura, King Jitaśatru, Merchant brother Dhanāvaha, Sister Dhanaśri, Monk Dhrmaghosa and Samudradatta, the son of Aśokadatta of the city of Sāketa,

Nun Sarvaṅgasundarî (or Padmaśrī) was alone when she was on her begging tour and the picture of a peacock swallowed the necklace.

B. Samaraiccakaha and *Paumasiricariu* :–Dhana (sena), father of Dhanaśrī, Brother Dhanapati (Dhanadatta), Mention of the presiding deity (Ksetrapāla) as well as the Vyantara god in bringing about the separation of the couple and Yaśomatī (as a nun in *Samaraiccakaha* and as wife of Dhanadatta in *Paumasiricariu*)

Love affairs in a garden, introduction of a deity's voice in causing separation, a number of visits of nun Padmaśrī at the house of Kāntimatí and the threading of the necklace by Kāntimatī.

II. Some differing points and innovations :—

A. Differing-Points :—

	(Paumasiricariu)	(Avasyakacurni)	(Samaraiccakahā)
1.	Ratnavali	...	...
2.	Dhanadatta	Jiavatti	Dhanna
3.	Kirtimati	Srîmatī	Srimatì
4.	Vimalaśīlà	....	Yaśomatí

B. Some Innovations in Paumasiricariu :—

Queen Līlāvati,, Sankara as husband of Dhanasrí, Brothers' wives Yasomatī and Yasodā, Candralekhā, Silāvati, Girlfriend Vasantasenā and Introducation of ruddy goose-couple.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Thus it is clear that the primary sources of *Paumasiricariu* are in the *Avasyakacurni* and *Samaraiccakaha*. The alterations and innovations in his story reveal that Dhāhila might have either got the story traditionally or he has brought about some innovations of his own accord for which he had the vision as we note his genius in his style and descriptions and the reason that he attained a place among the foremost poets.

1. See Sramana, Banaras, Jan, Feb. 1966 for the Hindi Version.

Reference Works : -

1. *Paumasiricariu*, ed. *H. C. Bhayani*, Bombay, 1948.
2. *Visesavasyakabhasya*, Ratlam 1926.
3. *Avasyakaaryukti-dipika*, Bhavnagar, 1939.
4. *Avasyakacurni* by Jinadasaganimahattara, Ratlam, 1928.
5. *Avasyakavrtti* by Malyagiri, Surat, 1916.
6. *Avasyakavrtti* by Haribhadrasūri, Surat, 1916.
7. *Samaraiccakaha*, ed. *Dr. H. Jacobi*, Calcutta, 1926.

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

SRAVANA BELGOL AND GOMMATESVARA

Prof. Dr. A. N. Upadhye

Kolhapur

The 10th of March 1966 is scheduled as the day for the Grand Capital Anointment (*maha-mastak:bhiseka*) of the mammoth statue of Gommatesvara at Sravana Belgol in the Mysore State. The preliminary rituals start almost a fortnight earlier. Pilgrims, especially Jainas,from all parts of India would gather together on this occasion; and it is expected that more- than two to three lakhs of them might come this year. This year the govt. of Mysore are canstructing a permanent township at that area. It has become a well-established custom that an Anointment like this should be celebrated after every twelve years; and the last one was performed on the 5th of March, 1953.

Sravana Belgol is situated in 12.51 north latitude and 76.29 east latitude. It is at a distance of about 90 miles from Hassan s as well Arsikere. The routes pass through Chenarāy Pattan to the south of which, at a distance of about 8 miles, the tiny village of Sravana Belgol is situated between two hills, Chandragiri and Vindhyagiri, close to a beautiful, well built lake, Kalyāni by name. Workman has rightly remarked about Sravana Belgol: 'In the whole beautiful state of Mysore, it would be hard to find a spot where the historical and picturesque clasp hands so firmly as here.'

The term Sravana distinguished this Belgol from two others, Hale-Belgol and Kodi Belgol (hale=old; kodi=corner) in the vicinity. Sravana or Sramana means an ascetic, a Jaina saint, who is the prominent representative of the great Sramana culture,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Possibly here Sramana refers to Bhadrabāhu who migrated to this place with a Saṃgha and in whose memory a cave stands on the Chandragiri. Or it has a reference, in general, to jaina saints associated with this locality, and in particular to Bāhubali whose grand statue stands on the Vindhyagiri. The name Belgol is derived from *Bel* (meaning, white) and *gol* (meaning, lake), and obviously refers to the splendid square lake which is mentioned in the local inscriptions as Dhavala or Sveta Sarovara. This lake is popularly known as Kalyāni. It is an old lake, as old as Belgol itself, though lately rebuilt. 'It is a beautiful large pond stepped on all sides surrounded by a wall with gates surmounted by towers. To the north is a large pillared hall on one of the pillars of which is an inscription stating that the pond was caused to be built by Chikka-Deva-Rājendra. The latter was king of Mysore who ruled from 1672-1704. From the Gommatesvara-carite of Anantakavi (c. 1780) we learn that Chikka-Deva Rāja who ordered the construction of Kalyāni at the request of Annayya, his mint-master, died before the completion of the work, and that Annayya completed the pond with towers, pillared hall, etc., during the rule of Krishna-Rāja-Odeyar I (1713-1731), the grandson of Chikka-Deva-Raja.'

The two hills, between which the village Belgol is situated, have also significant names. The bigger one (Dodda-betta, in Kannada) is called Vindhyagiri which name the migrating people might have brought with them as they came from the North. The smaller hill (Chikka-betta, in Kannada is called Chandragiri). This name appears to suggest the fact that Chandra-gupta Maurya, who came to the South with Bhadrabāhu, as a tradition of much authenticity and sufficient antiquity tells us, breathed his last, in a religious manner on this hill. Oh this Chandragiri we have fine temples in Dravidian architectural style. Some of them are as old as the 8th century A. D. Temples like the Chāmundarāya Basadi are pretty beautiful from the artistic and architectural points of view.

In the medieaval history of Jainism in the South, Sravan Belgol was a centre of great cultural importance. Its greatness lies in the fact that it possesses certain features of abiding value.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

If tradition is to be believed (and it has been accepted by historians like Smith and others), the history of this place goes back as early as the 3rd century B. C. Chandragupta Maurya is said to have taken the vow of renunciation in his old age and migrated to this place with his Teacher or Guru Bhadrabāhu. The whole area is spotted with inscriptions, nearly 500 in number, which range in date from 600 A. D. almost to the present times (Epigraphia Carnatica Vol. II, Revised ed., Bangalore 1923). The wealth of information gathered from these records sheds abundant light not only on the cultural history of Jainism but also on the history of dynasties like the Ganga, Rāshtrakuta, Chālukya, Hoysala, Vijayanagar and Mysore rulers. Then there is the Jaina Matha the spiritual heads of which have guided the social and moral destiny of the Jaina community in Karnātaka and round about for centuries together. The beautiful temples and collection of palm-leaf MSS would be an enviable asset to any holy place. Above all, there is the grand colossus of Bāhubali on the summit of the Vindhyagiri, like which nothing is found anywhere else in the world. Thus it is evident that Sravana Belgol is something more than a place of pilgrimage for Jains: It is a centre of cultural and historical importance and the statue of Gommatesvara is a priceless treasure of our national art gallery.

The following particulars about Bāhubali, called Gommatesvara, can be gathered from an inscription of 1180 A. D. which is in the form of a short kannada poem composed by Boppana, also known as Sujanottamsa :

'Bāhubali was the son of Purudeva or the first Tīrthamkara and the younger brother of Bharata. His other name was Bhujabali. There was a struggle for empire between the brothers, which resulted in Bāhubali generously handing over the kingdom of the earth to the defeated elder brother and retiring from the world in order to do penance. He thus became a Kavali, and attained such eminence by his victory over Karma, that Bharata erected at Paudanapura an image in his form 525 bow-lengths in height. In course of time, the region around the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

image having become infested with innumerable Kukkuta-sarpas or cockatrices (Kukkuta-sarpa is a fowl with a serpent's head and neck), the statue came to be known as Kukkuṭeśvara. It afterwards became invisible to all except the initiated. But Chāmuṇḍa Rāya,-having heard a description of it, set out with the desire of seeing it. Finding, however, that the journey was beyond his power owing to the distance and inaccessibility of the region, he resolved to erect such an image himself and with great effort succeeded in getting this statue made and set up.'

The colossus of Gommaṭeśvara stands as the crest of Vindhyagiri. The upper part of this huge statue can be seen from a distance of some sixteen miles. From the ground below we see the image upto the breast, but as we climb the hill the image goes out of sight being surrounded by a temple the ramparts of which support the lower of half the image. Cut out of a boulder (of fine grained light grey grainse) resting on the sport the image is about fifty-seven feet in height. Though not older, it is bigger and more impressive than the statues of Rameses in Egypt. It stands all nude, facing the North, with hands hanging straight with the thumbs slightly turned outwards. The monolithic image occupies a remarkably commanding position on the brow of the hill overlooking the wide stretch of plains. One visualises on the sport as if Bāhubali is taking a quiet glimpse of his spiritual empire in the North as far as the Himalayas The pedestal of the image represent an open lotus. There are anthills, in stone of course, with emerging serpents on both the sides; and the Mādhavi creeper (Gaertnera racemosa, a larg creeper with fragrant white flowers which springs up and blossoms in the hot weather twines itself round both legs and arms: this is symbolic of the posture of deep meditation. There is an impressive and majestic grandeur about the image. What engrosses one is the demeanour of the face which is its strong point. 'Considering the size of the head, which from the crown to the bottom of the ear measure six feet six inches the artist was skilful indeed to draw from the blank rock the wondrous contemplative expression touched with a faint smile, with which Gommaṭa (-Jina) gazes out on the struggling world for nearly one thousand years, the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

image being carved out in circe 984 A. D. by Chāmundarāya, the great commander-in-chief of Rājamalla, the Ganga king, who ruled over that part of the country.

All full photographs of this image are in one way or the other distorted, because the image is very tall; and there is no convenient point sufficiently elevated to focus the full image. This is image imitated at Kārkal and Venur (South Kanara Dt.); but the three faces, as I see them, give different expressions. The detached serenity of the Belgol image is a triumph: not only it attracts the mind but entraps our heart. The Kārkal image shows extra-meditational gravity, and that of Venur, Juvenile smile. The purpose of imitation has not been quite successful; but to the fortune of posterity and to that of monolithic art of India these three images are precious and pround coutributions. The granite of the Belgol statue is superior: like its face undisturbed by attachment and aversion the image stands almost unaffeceted by sun and rains, and 'looks as bright and clean as if just from the chisel of the artist.'

The serene and detached face, with its childlike innocent simplicity, of Gommatesvara commands respect and reverence. It is a profoundly significant remark of the late Highness the Maharaja of Mysore who said thus some years back : 'The land of Mysore symbolises Gommata's spiritual empire; one can piously wish that the spiritual forces might radiate from the life and image of Bāhubali all overt he world which is passing through a transitional period of history. India is once more being called Bhārata a name which our land possessed after Bharata. As the traditional story goes, Bāhubali relinquished his empire in favour of his defeated brother Bharata. India or Bhārata is de jure the veritable spiritual empire of Bāhubali; and he is viewing it from Vindhyagiri for the last ten centuries.

The life of Gommaṭesvara or Bāhubali has a noble lesson to the struggling humanity for all times to come. Bāhubali was proud of his power and strengh. He would not give an inch of the land and submit to his elder brother. Bharata was irritated, and there ensued the battle. The wise ministers asked them as to

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

what they would gain by killing on the battle-field thousands of men for whose welfare their kingdoms were meant. What a vanity of the individuals, and now-a-days of Nations, that so many people are to be sacrificed on the battle-field and so much property destroyed. Wiser counsels prevailed, and Bharata and Bāhubali got down into the arena to decide the issue between themselves. The duel was conducted in various ways. Bharata was defeated. Bāhubali won the applause of all. His success meant the defeat of his brother : what a vanity of success and defeat ! The spiritual values flashed accross Bāhubali's mind. He relinquished the kingdom in favour of his Brother. He bade good bye to the hollow vanities of this world and rose above them by cultivating the spiritual values of a lasting character.

On the image itself there is an inscription in three or four characters (Kannada, Nagari and Vatteluttu) which tells us that it was constructed by Chāmunda Rāya who was the minister and commander-in chief of the Ganga king, Rācamalla IV. This image of Bāhubali is popularly know as Gommateśvara. According to the Gommatasāra of Nemichandra and the Sravana Belgol inscription of 1180 A. D, Chāmunda Rāya was also known by the name Gommata or Gommmata Rāya. It is after him that the image came to be called Gommate śvara, It is a well-known custom that the deities were named after the founders of the temples. Nila-kantheśvaradeva, Lakshmaneśvara, Sankaresvaradeva are the names given to deities consecrated by Nilakanthanāyaka (Saka 1051), Lakshmana and Sankara-chamunātha. Once the Belgol image became famous as Gommateśvara, gradually that very name came to be applied to similar images at at Kārkal and Venur.

The grand Capital Anointment is a unique festival and a rare occasion for the pious Jainas to assemble there. It is celebrated on a holy day and at great cost. The earliest reference to such a festivity is found in an inscription of 1398 which states that Panditārya had it performed seven times. 'The poet Pancabāna refers to an anointment caused to be performed by one Sāntavarni in 1612, Anantakavi to another conducted at the expense

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of Visālāksha-pandita, the Jaina minister of the Mysore king Chikka-Devaraja-Odeyer, in 1677, and Santiraja Pandita to a third caused to be performed by the Mysore king Krishnaraja-Odeyar III. Similar ceremonies were performed in 1827, 1871 and 1887. During this century we had the Mastakabhisheka in 1909, 1925 and then in 1940 and 1953. What this ceremony means would be clear from the following account taken from the Harvest Field : (May 1887) :

The 14th March last was the day of anointing for the statue of Gommatesvara. It was a great day, in anticipation of which 20, C00 pilgrims gathered there from all parts of India There were Bengalis there, Gujaratis also and Tamil people in great numbers. Some arrived a full month before the time and the stream continued to flow until the after-noon of the day of the great festival. For a whole month there was daily worship in all the temples, and pada-puja or worship of the feet of the great idol besides. On the great day, the 14th, the people began to ascend the hill even before dawn in the hope of securing good places from which to see everything. Among them were large numbers of women and girls in every bright attire, carrying with them brass or earthen pots. By 10 O'clock all available space in the temple enclosure was filled. Opposite the idol an area of 40 square feet was strewed with bright yellow paddy on which were placed 1000 gaily painted earthenwar pots, filled with sacred water, covered with cocoanuts and adorned with mango leaves. Above the image was scaffolding, on which stood several priests, each having at hand pots filled with ghee, milk and such like things. At a signal from the Kolhapur Svami, the master of the ceremonies, the contents of these vessals were poured simultaneously over the head of the idol. This was a sort of preliminary bath, but the grand bath took place at 2 O'clock. Amid the horrible dissonance of many instruments the thousand pots already mentioned were lifted as if by magic from the reserved area to the scaffolding and all their contents poured over the image, the priests meanwhile chanting texts from the sacred books. Evidently the people were much impressed. There were

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

mingled cries of 'Jai Jai Maharaja', and 'Ahaha, ahaha', the distinctive exclamations of Northern and Southern Indians to mark their wonder and approval. In the final anointing fifteen different substances were used, nameiy, water, cocoanut meal, plantains, Jaggary, ghee, sugar, almonds, glates, poppy seeds, milk, curds, sandal, gold flowers, silver flowers and silver coin. With gold and silver flowers there were mixed nine varieties of precious gems; and silver coins to the amount of Rs. 500/-completed the offering.

Sravan Belgol, as the late lameuted Sir Mirza Ismail rightly remarked, is not merely of sectarian interest ; it is a locality of national pride and position. Gommatesvara is the symbol of all that is true, beneficial and noble. This place has been a resort of both princes and poets. The Rashtrakuta king, Indra IV, came here as a pilgrim and died a religious death by the rite of Sallekhana in 982 A D. The great Kannada poet Ranna has left his autograph in stone at this place. If not for anything else it is for the colossus of Gommatesvara that Sravana Belgol should be a place of pilgrimage for all earnest seekers of World—Peace of which Bahubali has been typically symbolic.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

JAIN LOGIC : FIVE QUESTIONS DISCUSSED

G. L. Amar

It was in the Department of Philosophy of the University of Rajasthan that Dr. Daya Krishna, Professor & Head of the Deptt. Convened a discussion on Jain Logic in co-operation with the organisers of the Jain Sahitya Seminar held in Jaipur on the 25th, 26th, and 27th of January, 1970. The present article was put under Discussion mentioned above. The questions were raised by Dr. Daya Krishna himself.

Question I: The relation between Jain Logic & Jain Metaphyiscs.

Answer : In older works of Jain Writers, Logic was mixed up with metaphysics and religion. Subsequent writers composed separate works confining themselves exclusively to the subject of pure logic. So far as the relation between Jain Logic and metaphysics is concerned, the logic, to be renamed. Jainologically as 'Pramana' leads to metaphysical attainments. The knower of 'Pramana' onely understands the real nature of knowables and wishes to have or leave the same. To illustrate, the immediate effect of 'Pramana' is the removal of ignorance resulting in blish and equaminity, while that of the ordinary practical knowledge is the facility to select or reject.

Question 2: Does Jain Logic really give up the Law of contradiction ?

Answer : Yes, of course. The Jain Logic, with special reference to the 'Nayas' deals with the various aspects of reality from their particular angles, but they do not predicate the non-existence of other points of views. What they, the 'Nayas' do is nothing but the particularisation of the point in question on one hand and the commonisation of point out of question on the other. This

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

very process of particularisation and commonisation going on even simultaneously, leaves no room for the Law of Contradiction.

Question 3 : Does Jain Logic really concieve of a statement being neit her t u nor false ? In other words, does it give up the Law of Excluded Middle?

Answer : Does Jain Logic really concieve of a statement being neither true nor false ? This question may be answered positively, if it is recomposed as, 'Does the Jain Logic really concieve of a statement, simultanously being neither true nor false on one hand, whereas being either true or fales on the other ?' The Law of Excluded Middle will have to be adjusted in the frame of this answer.

Question 4 : Is simultaneous truth and falsity of a statement valid only from different points of view ? If so, then how is Jain view different from those of others ? Or, do the Jains maintain that there is no such thing as an Absolute Truth or Falsity but that a statement is true or false only from some point of view or another ?

Answer : Simultaneous truth and falsity of a statement is valid only from different points of view. Even then the Jain point of view is different from those of others, because according to them there is no co-relation between the positivity and negativity, viz, 'sattva' and 'Asattva', 'Nityatva' and 'Anityatva', 'Bheda and 'Abheda', 'Ekatva' and 'Anekatva'. The Jains do maintain that there is no such thing as an absolute truth or falsity (if the theory of 'Anekant' is not applied therein), but that a statement is true or false only from some point of view or the other.

Question : 5 The relation between Jain position in this respect and that of Sankara on the one hand and Nāgārjuna on the other.

Answer : The Jain position in this respect may well be related between that of Sankara on one hand and Nāgārjuna on the other.

It has been irrefutably shown by Nāgārjuna, the pattern and paragon of sceptics, that an existent effect has no necessity for a cause, a non-existent also cannot be made existent. A combination of existence and non-existence is logically incompatible

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

and exclusion of both is rejected by the Law of Excluded Middle. Nāgārjuna concludes that causation is only an apperancc of which no rational explanation is possible. It is logical in character and so cannot be real, as reality must not contradict the laws of thought which are also the laws of being.

So for as the criticism of the Sānkhya and Nyāya theories is concerned, Nāgārjuna may be taken to right, but he has taken the formulation of those theories at their face value. He has read contradiction in the theories and his criticism is, no doubt, correct, because these philosophers have been hasty in their evaluation of the nature of reality and because also their representation is not wholly correct.

The Naiyāyika errs by emphasizing one or the other as the exclusive characteristic, whereas the nature of reals is not exclusive or extre mistic. It is existent-cum-non-existent.

The charge of contradiction, as pointed out by Nāgārjuna, holds unassailable those who regard existence and nonexistence as absolute and exclusive characteristics. Experience does not warrant such extremistic characterisation of reality and so the finding of contradiction is based upon a hasty study of facts. The false and fallacy of Nágārjuna was that he, instead of taking his opponants interpretation of the nature of things on trust he should have gone into the original field. He also has not succeeded in preventing himself from falling a prey to the facile observation and superficial exposition of the professional philosophers who held the field. The antinomies, which are inherent in the professional orthodox theories, did not escape his vigilant logical vision. But this should have given him a reason for pause and impressed upon him the necessity of fresh thinking on the nature of reality. Nāgārjuna failed to do this transferred the antimonies, which are inherent in the traditional theories, to the nature of things. The result is unrelieved scepticism, which gloats over the failure of professional philosophers. He was not serious enough to contemplate whether an alternative explanation was possible.

Saṅkarāchārya succeeds in denying the plurality with their relations by the application of the Law of Contradiction, based

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

upon the difference and opposition of being and non-being, which he thinks to be absolute. But if we can persuade ourselves that a 'priori' reasoning independent of experience is incompetent to yield insight into the nature of reals and their relations, we cannot accept the findings of idealists. The Jain is a realist and if Vedānt is the paragon of idealistic thought, Jain philosophy is with equal propriety and truth entitled to be called the paragon of realism. The admission of plurality necessitates the recognition on the dual nature of reals as constituted of being and non-being as fundamental elements. The being of one is not the being of others; one has a self-identity of its own unshared by others, and they are unreal in respect of a different self-identity. Jain thought steers clear of the Scylla of monism and the Charybdis of nihilism by accepting the deliveries of experience as the final truth. Of course experience must not be contradicted by subsequent experience if it is to be an authentic source of knowledge.

The Jain is emphatic that the charge of contradiction against the co-presence of being and non-being in a real is afigment of a 'priori' logic, and his dismissal of this fundamental accusation entails the collapse of all other charges, which are concequential upon the truth of contradiction.

It will suffice that a real is a manifold infinite plurality of attributes, and the infinity of attributes, which is the consequence of the charge, is true aud authenticated by logic. So the charge does not invalidate the Jain position.

— ——

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

List of Publications with pr

of

Shree Jain Siddhant Bhaw

ARRAH (Bihar), India.

Shree Jain Siddhant Bhaskar & The Jain Ant
(Anglo-Hindi Resea

Part 1 ······ 4 Issues unavailable
Part 5 ········ 1 Issue unavailable
Parts 2 to 15 ········ 37 Issues Rare Issue
(except above) at Rs 20/–
Part 16 to 25 ········ 20 Issues
at Rs 10/–
T

Shree Jain Siddhant Bhaskar
& the Jain Antiquary (Sixmo
Research Journa

Books Published by us :—

1. Jain Literature in Tamil
by Prof. A. Chakravarti
2. Triloyappannutti
by Dr. A.N. Upadhey, M.A.,D. Litt.
3. Catalogue of English Books

Hindi Books

1. Vaidha Sar (वैध सार) ·····
2. Gyan Pradipika (ज्ञान प्रदीपिका) ·····
3. Muni Subrat Kavya (मुनि सुव्रत काव्य
Translated by Pt. K. B. Shashtri ·····
4. Pratima Lekh Sangrah (प्रतिमा लेख सं
by Sri Kamta Prasad Jain, M.R.,A.S.
5. Prashashti Sangrah (प्रशस्ति संग्रह)
by Pt. K. B. Shashtri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi